भारतीय साहित्य

(आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ का मुखपत्र)

जुलाई १९५८

[वर्ष–३ : अंक–३

सम्पादक

डा० विश्वनाथ प्रसाद

संचालक

क० मुं० हिन्दी तथा भाषा विज्ञान विद्यापीठ

आगरा विश्वविद्यालय आगरा

प्रकाशक
संचालक
क० मुं० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान, विद्यापीठ,
आगरा विश्वविद्यालय,
आगरा

वार्षिक शुल्क १२)

भारतीय साहित्य
वर्ष ३, अंक ३

मुद्रक
एच० के० कपूर
आगरा यूनिवर्सिटी प्रेस
आगरा

विषय-सूची

डॉ०सुमित्र मंगेश कत्रे

भारतीय भाषाविज्ञान का भविष्य*

अपने आज के सम्भाष्य विषय की पृष्ठभूमि के रूप में मैं आपका ध्यान भाषाविज्ञान के क्षेत्र में प्राचीनतम मानवीय उपलब्धियों के प्रति आकर्षित कर रहा हूँ। पाश्चात्य राष्ट्रों में ग्रीक लोग सर्वप्रथम थे जिन्होंने भाषाविषयक अभिरुचि प्रकट की और चूंकि उनके पाठ्यग्रन्थों के प्राचीनतम रूप पवित्र माने जा चुके थे और वे परकालीन उच्चारित भाषण रूपों से भिन्न हो चुके थे; अतएव उस पवित्र भाषा के विश्लेषण-हेतु वहाँ अनेक प्रयत्न हुए और शनैः शनैः व्याकरणिक उपपत्तियों का समूह विकसित हुआ। किन्तु ग्रीक मनीषी व्यावहारिक भौतिक उपलब्धियों से सम्पन्न होते हुए भी दार्शनिक विचारों की ओर अधिक झुके थे और इसलिए उनका व्याकरणिक कोटिनिरूपण, कुछ सीमा तक भारतीय कोटिनिरूपण के समान, दार्शनिक आधार पर स्थित था। ग्रीक विद्वानों के पश्चात् रोमन आए और उन्होंने एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत किया, जिसका प्रयोग योरोप की प्राचीन तथा तत्कालीन भाषाओं के विवरण उपस्थित करने में होता रहा। किन्तु, योरोप में व्याकरणिक उपपत्तियों एवं विश्लेषण का मुख्य ध्यान लिखित लिपि-संकेतों पर केन्द्रित था; क्योंकि उनका मुख्य सम्बन्ध लिखित पाठ्यग्रन्थों में सुरक्षित पुरातन वाङमय से ही था और इसी कारण इन भाषाविदों को अपने समय की बोलियों की विशेषताओं का न तो निरीक्षण करने का और न तो उल्लेख करने का अवसर मिला। सैमेटिक लोगों के भाषावैज्ञानिक अध्ययन के इतिहास में भी कुछ ऐसा ही समरूप विकास मिलता है और ऐसी ही प्रवृत्ति प्राचीन और मध्ययुगीन चीनी तथा जापानी भाषाविज्ञान में भी दृष्टिगोचर होती है।

किन्तु यह भारतवर्ष ही था जहाँ, वेदमन्त्रों के प्रणयन के पश्चात्, वैज्ञानिक भाषातत्व के बीजों का सर्वप्रथम वपन हुआ। यहाँ उच्चारित शब्दों की, तदाश्रित लिखित प्रतिरूपों की अपेक्षा, अधिक महत्ता थी। भारतवर्ष में ईसापूर्व प्रथम सहस्राब्द में लिपि विदित एवं प्रचलित थी—या न थी, यह एक व्यर्थ का प्रश्न है। सिन्धुघाटी सभ्यता में उत्कीर्ण-मुद्रालेखों की उपलब्धि ने लिपि-प्रणाली की सत्ता को, चाहे वह प्रणाली कैसी ही क्यों न हो, सिद्ध कर दिया है; परन्तु जहाँ तक भारतीय साहित्य-परम्परा का सम्बन्ध है,

---

*२३ अगस्त, १९५८ को विद्यापीठ द्वारा आयोजित 'प्रसार व्याख्यान माला' के अन्तर्गत एक विशिष्ट व्याख्यान।

मौखिक परम्परा लिखित परम्परा से पूर्वकालीन है । ग्रीस की भांति, यहाँ भी प्राचीन ग्रन्थों की भाषा परकालीन भाषाभाषियों के सम्मुख एक समस्या बन गई थी और विशद विवेचनार्थ न केवल मौखिक रूप की शुद्धता संरक्षित करने के लिए, अपितु पवित्र मन्त्रों के अर्थज्ञान के लिए, व्याकरणिक सिद्धान्तों का अपेक्षा थी । मौखिक उच्चारों के सम्बन्ध में भारत में जो प्रथम गवेषणाएँ हुई—उन में एक थी, ध्वनि संस्थान का ध्वन्यात्मक विश्लेषण । भारतवर्ष सत्यत: ध्वनिविज्ञान का आविष्कर्ता कहा जा सकता है । इस ज्ञान के आधार पर ध्वनि संस्थान एक व्यवस्थित क्रम में बद्ध किया गया और मूलभूत 'अक्षरसमाम्नाय' का स्थापन हुआ, जिसने सुलक्षित वर्गों में ध्वनियों की ध्वनिवैज्ञानिक प्रकृति का निरूपण किया ।

प्राचीन पवित्र ग्रन्थों के अर्थनिर्णय के प्रयत्नों के फलस्वरूप उच्चारित ध्वनियों का व्याकरणिक विश्लेषण, तदनन्तर विभिन्न कोटियों का निर्धारण और तत्पश्चात् समग्र उच्चार में उन कोटियों के पारस्परिक सम्बन्ध का स्थापन व्यवस्थित हुआ । भाषावैज्ञानिक विश्लेषण की इस पूर्ण उपपत्ति को व्याकरण कहा गया और उसे षट् वेदांगों में उच्चतम आदर का स्थान मिला । इस विश्लेषण की श्रेष्ठता का कारण इस सिद्धान्त की स्वीकृति है कि भाषा का विधान उच्चारों के चिह्न-संकेतों द्वारा है, जो किसी मानववर्ग या मानव समाज के व्यक्तियों के बीच प्रेषणीयता के साधन रूप हैं । यद्यपि अनेक प्रकार की भाषाएँ स्वीकृत की गई हैं, जैसे; आँख तथा हाथों की गतिविधियाँ तथा अन्य प्रकार की भाव भंगिमाएँ, फूलों की भाषा, प्रतीक भाषा आदि; परन्तु जो श्रेष्ठ भाषा है, वह मौखिक उच्चार ही है । उच्चार तथा उसका ध्वनि, पद, वाक्य एवं अर्थ के स्तरों पर विश्लेषण ही व्याकरणिक उपपत्ति है और इसके द्वारा व्यावहारिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भाषा का अर्जन सम्भव है । यहाँ संसार में सर्वप्रथम भाषा को भाषा रूप में स्वीकार करते हुए, बिना बाह्य कोटियों का उल्लेख करते हुए, भाषा का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया । इससे भाषा-अध्ययन में ऐसी प्रवेश-विधि मिली जो किसी भी भाषा के विश्लेषण में परमसमर्थ थी । इस सतत प्रयत्नों की पराकाष्ठा, पाणिनि द्वारा आज से २५ शताब्दी पूर्व निरूपित संस्कृत भाषा के विवरण में है ।

पाणिनि की अमर एवं श्रेष्ठ कृति को प्रादुर्भूत करने वाली भाषावैज्ञानिक उपपत्तियों की उन्नति स्वयं शून्य परिस्थितियों में विकसित नहीं हुई थी । प्राय: उन्हीं दिनों विभिन्न दार्शनिकधाराएँ निरन्तर बढ़ रहीं थी और उन्होंने कुछ सीमा तक व्याकरणिक उपपत्तियों को प्रभावित भी किया था; किन्तु पाणिनि तथा उनके पूर्वाचार्यों के कार्य की प्रमुखता इसमें थी कि उन्होंने दार्शनिक पक्ष को अपेक्षाकृत पृष्ठभूमि में रखा और मौखिक उच्चार के तथ्यों एवं उनके यथार्थ विश्लेषण को अग्रभाग में केन्द्रित किया । इस विज्ञान की आधुनिक उन्नति के प्रकाश में हम चाहे इस तथ्य को स्वीकार करें या न करें कि पाणिनि के पूर्व का विश्लेषण ध्वन्यात्मक अथवा स्वनिमात्मक स्तर पर था; किन्तु वस्तुत: २०वीं शताब्दी में स्थापित पद्धतियाँ भारतवर्ष की प्राचीन वैज्ञानिक उपलब्धियों पर पर्याप्त निर्भर हैं ।

हमें खेद है कि यद्यपि पाणिनीय पद्धतियाँ पाणिनि के कुछ समय पश्चात् भी विकसित होती रहीं तथापि उत्तरकालीन बोलियों के अध्ययन में वे समुचित रूप से उसी

पैमाने पर प्रयुक्त नहीं हुईं, जिस पर कि संस्कृत के अध्ययन में प्रयुक्त हुईं थी। जब पाणिनीय पद्धति सर्वस्वीकृत हुई और अनेक नई पद्धतियाँ पाणिनि से अनुप्राणित होकर सामने आईं, तब प्राकृतों के नाम से द्योतित पालि तथा अन्य मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के विशेष व्याकरण निर्मित हुए, किन्तु इन व्याकरणों की रचनाविधि से प्रकट होता है कि उनमें निरूपण पाणिनि की विवरणात्मक पद्धति से न होकर, संस्कृत तथा अन्य वर्ण्य भाषाओं की तुलनात्मक पद्धति से है। इस प्रकार तुलनात्मक व्याकरण के विषय में एवं भाषापरिवार की धारणा के स्थापन में भी भारतीय भाषाविद् संसार में अन्यत्र अपने सह-कर्मियों से आगे थे। यह खेद का विषय है कि तुलनात्मक व्याकरण में प्रत्येक भाषा का विवरणात्मक विश्लेषण नहीं हुआ। पाणिनीय सिद्धान्त की अपेक्षा उसकी कोटियाँ विवरण के लिए पथप्रदर्शक बनीं। जिस प्रकार ग्रीक तथा लैटिन की प्राचीन निरूपण-प्रणाली भारत-योरोपीय परिवार की आधुनिक योरोपीय भाषाओं के विवेचन में प्रयुक्त की गई, उसी प्रकार पाणिनीय संस्कृत के आदर्श ने एवं उस के निरूपण-प्रणाली के विविध रूपों ने, प्राचीन तथा मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं से विकसित भारत में वस्तुत: बोली जाने वाली भाषाओं के विवेचनार्थ अपनी कोटियों को —सर्वथा अननुकूल कोटियों को— प्रयुक्त किया।

पाणिनि के बाद की यह विश्लेषण-पद्धति कन्नड़, तेलुगु तथा मलयालम आदि द्रविड़ भाषाओं के विवरण में भी प्रयुक्त हुई; किन्तु तमिल के अतिरिक्त अन्यत्र पाणिनि-सम्मत वह व्याकरणिक उपपत्ति दृष्टि से ओझल हो गई थी, जिसमें वर्ण्य भाषा का, अपने से बहि:स्थित कोटियों के उल्लेख के बिना, विवरण होता था; और इसी कारण कन्नड़, मलयालम तथा तेलुगु के व्याकरणात्मक विवरण केवल पाण्डित्यपूर्ण कृतियाँ हैं और उनमें हम पाणिनि की उस गम्भीर और सूक्ष्म दृष्टि को नहीं पाते हैं, जो उन्हें अन्य विद्वानों से पृथक् विशिष्टता प्रदान करती है।

जहाँ तक आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का सम्बन्ध था, संस्कृत के पारिभाषिक शब्दों एवं संघटना के कारण उनका एक अप्राकृतिक विश्लेषण-मात्र हुआ।

२. भारत में भाषावैज्ञानिक अध्ययन का ह्रास होने पर भी पाश्चात्य विद्वानों को जब सर्वप्रथम संस्कृत का पता लगा और उसकी विशद व्याकरणिक विधि से परिचय प्राप्त हुआ तो, पश्चिम में एक नया प्रकाश फैल गया। संसार में विशदतम इस भाषा के वैज्ञानिक विवरण ने व्याकरणिक विवरण एवं विश्लेषण की एक नवीन विधि को प्रस्तुत किया। सर्वप्रथम संस्कृत तथा ग्रीक, लैटिन आदि पाश्चात्य प्राचीन भाषाओं में पारस्परिक सम्बन्ध पहिचाना गया। संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, कैल्टिक, प्राचीन उच्च जर्मन आदि भाषाओं के बीच नियमित समानताओं ने विद्वानों को इन भाषाओं को एक वंशा-नुक्रम से सम्बद्ध परिवार का रूप देने में समर्थ बनाया और परिणामत: १९वीं शताब्दी में तुलनात्मक भाषाविज्ञान की नींव पड़ी। इस उन्नयन में सर विलियम जोंस से लेकर बॉप, रैस्क, ग्रिम तथा इनके पश्चात् श्लाइख़र, ब्रुगमन्, ऑस्टोफ तथा डेलब्रुक आदि चोटी के विद्वानों के नाम आते हैं। भारतयोरोपीय परिवार के अन्तर्गत आने वाली अन्य भाषाओं के बीच नियमित समानताएँ स्थापित हुईं और पाणिनीय पद्धति के आधार पर

पृथक्-पृथक् भाषाओं की संघटना का अधिकांशतः विश्लेषण हुआ। इस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन द्वारा प्रत्येक भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन के, प्रगतिपूर्ण सफलता प्राप्त करते हुए, अनेक प्रयत्न हुए।

किन्तु विस्तार के इस युग में ही—जबकि नए-नए भूखण्ड ज्ञानालोक में प्रकाशित हुए और विज्ञान के नए-नए पथ प्रकट हुए—यह सम्भव हुआ कि भारतयोरोपीय परिवार से वंशानुक्रम से असम्बद्ध भाषाओं का ज्ञान शनैः-शनैः भाषाविज्ञान द्वारा प्राप्त हो सका। इन नवीन भाषाओं में बहुत सी भाषाएँ ऐसी भी थीं जिनकी कोई लिपि नहीं थी, अतः प्राचीन भारत में स्थापित रूपरेखा का अनुसरण करते हुए ध्वन्यात्मक अनुसंधानों की प्रचंड लहर उमड़ पड़ी और सूक्ष्म पर्यवेक्षण एवं अध्ययन से नवीन पद्धतियों का विकास हुआ। ध्वनि के केवल कान से सुनने की अपेक्षा और ध्वनि-सम्बन्धी शारीरिक अवयवों एवं श्रावणीयता के विश्लेषण के स्थान पर भौतिकशास्त्र के लिए आविष्कृत अधिक निश्चित तथा सूक्ष्म यन्त्रों का अधिकाधिक प्रयोग भाषाविज्ञान में होने लगा। नये यन्त्रों ने वैज्ञानिकों के लिए बृहत्स्वनात्मक उच्चार-विश्लेषण के स्थान पर सूक्ष्मस्वनात्मक उच्चार का अध्ययन सम्भव किया और इस प्रकार यान्त्रिक ध्वनिविज्ञान की स्थापना हुई।

यद्यपि १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तुलनात्मक भाषाविज्ञान एक सुदृढ़ व्यवस्था के रूप में स्थापित हो चुका था, तथापि भाषातत्त्वविज्ञान के रूप में इसका उत्थान मुख्यतया २०वीं शताब्दी में हुआ है। फ्रांस तथा स्विट्जरलैंड में फरदीनन्द सॉसुर के सैद्धान्तिक कार्य से प्रारम्भ होकर एक नवीन विचारधारा का सम्प्रदाय के स्वरूप में निर्माण हुआ और तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक पुनर्रचना में स्वीकृत पद्धतियों की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि का पुर्निरीक्षण हुआ। संसार के प्रत्येक भूभाग में प्राप्त नवीन भाषावैज्ञानिक सामग्री ने—चाहे वह प्राचीन ऐतिहासिक मूलस्थलों में प्राप्त लेखों के रूप में हो, चाहे नवीन खोजे हुए भूभागों के मध्यभाग में बोली जाने वाली नवीन भाषाओं या बोलियों के रूप में हो—प्रयोगशाला की अवतारणा की, जहाँ इन सैद्धान्तिक विचारों को कसौटी पर कसा जा सके और सूक्ष्म एवं परिष्कृत विधियों को जन्म दिया जा सके। भाषाविज्ञान के जिनेवा सम्प्रदाय के पश्चात् प्राग तथा कोपेनहेगन सम्प्रदाय आए, जिन्होंने अपनी प्रारम्भिक प्रेरणा सॉसुर से ग्रहण की; किन्तु उनके स्वतन्त्र सैद्धान्तिक विचार स्वयं के थे। १९३०-१९५०, इन बीस साल के भीतर इस दिशा में विशेष उन्नति हुई। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में, नृतत्त्व-विशारद बोआज तथा सैपीर की कृतियों के पश्चात्, भाषाविज्ञान के क्षेत्र में ल्योनार्ड ब्लूमफील्ड का सर्वोच्च नाम है जो कि सिद्धान्तविद् के साथ-साथ क्रियात्मक क्षेत्र-कार्यकर्ता भी हैं। संयुक्तराष्ट्र में वर्तमान भाषावैज्ञानिक विचारधारा मुख्यतः उक्त त्रिमूर्ति द्वारा ही सुशासित हुई है।

विद्युत्, तारों में संचलित तथा फिर ध्वनि में परिवर्तित विद्युत् चुम्बक लहरियाँ, ग्रामोफोन, रेडियो, टेलीफोन, ध्वनि प्रकाश चित्र के आविष्कार आदि भाषण-संचारण की सामान्य उपपत्ति में सीमाबिन्दु थे, जिसकी मानव-भाषा भी एक शाखा है। 'श्रौत' संज्ञप्तियों से, जो प्रायः मौखिक उच्चार हैं, हम 'दृश्य' संज्ञप्तियों के युग में आते हैं। संचारण इंजीनियरिंग के मुख्य प्रयोजन के लिए इन संज्ञप्तियों के विस्तृत विश्लेषण ने

आधुनिक भाषावैज्ञानिक विश्लेषण को एक नया मोड़ दे दिया है। उदाहरणार्थ, अमेरिका में वर्तमान पाठ्य-पुस्तकों में भाषा संकेतबद्ध और संकेतमुक्त करने वाले उपकरणों से युक्त संचारण-प्रणाली कही जाती है और यदि वर्तमान प्रवृत्तियाँ भविष्य की परिस्थितियों की सूचक हैं तो भावी सन्तति का बालक आधुनिक विद्वानों की अपेक्षा संभवतः सहजज्ञान से इस प्राविधिक पक्ष को अधिकता के साथ ग्रहण करेगा।

आधुनिक भाषावैज्ञानिक विश्लेषण का मुख्य प्रयोजन संक्षेप में यहाँ निर्देशित किया जाता है :—

(१) भाषा का, किसी भी बाह्य कोटियों का उल्लेख न करते हुए, स्वयं की संघटना के अन्तर्गत विशुद्ध रूप में वर्णन किया जाता है।

(२) संचरण इंजीनियर के दृष्टिकोण से कम से कम संख्या में सार्थक स्वनिमों की स्थापना के हेतु भाषा के ध्वनिसंस्थान का विश्लेषण किया जाना चाहिए। विशुद्ध ध्वन्यात्मक दृष्टि से मान्य निरर्थक ध्वन्यात्मक भेद स्वनिमात्मक स्तर पर केवल सार्थक इकाइयों से स्थानापन्न होंगे।

(३) संभाषण के क्रमिक भाषण उच्चारों के रूप में उदाहृत भाषा संघटना को इसी प्रकार सार्थक पदरूपांशों के भेदों में विखंडित किया जाएगा और भाषावैज्ञानिक संघटना का पदरूपांश-स्वनिमात्क विवरण स्वयंपरिपूर्ण स्वल्प विधि में दिया जाएगा।

(४) अर्थ, पदरूपांश-स्वनिमात्मक तत्वों के क्रम, शब्दावली आदि अन्यस्तरों पर भी इसी प्रकार विश्लेषण किया जाएगा।

भाषाविज्ञान की इस प्रवेशविधि के विशुद्ध परिणाम-स्वरूप भाषाविज्ञान का अध्ययन पुरातन पारिभाषिक शब्दावली की अतिवृद्धि से ऊपर उठ गया और किसी एक भाषापरिवार के एक-पक्षीय अध्ययन से जनित पूर्व धारणा से मुक्त हो गया। प्रसंगतः अब तक बहुत-सी अलिखित भाषाओं का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किया जा चुका है और वह भावी संतति के लिए सुरक्षित है।

भाषाविज्ञान के नये विकास का सर्व प्रथम परीक्षण विगत महासमर में हुआ। प्रत्येक भूभाग में विभिन्न युद्ध-स्थल के लिए आवश्यक सैन्य कार्यकर्ताओं के बृहत् समाज को दीक्षित करने के लिए जब इंगलैंड और अमेरिका को पर्याप्त संख्या में योग्य भाषाशिक्षकों की अपेक्षा हुई, और जब इस कार्य के लिए उनकी संख्या पर्याप्त न हुई, तब भाषाविज्ञान के विशेषज्ञ उपयुक्त गाढ भाषाशिक्षण के निरूपण के उद्देश्य से चुने गये। इस चुनौती ने भाषाविज्ञान को सुअवसर दिया कि वह अपने को प्रयोगात्मक लाभप्रद कार्य में लगाए। भाषाशिक्षण अब तक अधिकांशत: वर्तमान भाषाओं के पुरातन दृष्टिकोण से ग्रस्त था और बिना समझे अभ्यास करने वाला एक कष्टसाध्य कार्य था। किन्तु व्यावहारिक भाषा-विज्ञान ने प्रौढ़ शिक्षितों को निश्चित अल्पकाल में नवीन भाषा सीखने के लिए आवश्यक साधन प्रस्तुत किये और युद्ध की समाप्ति पर सुरक्षा विभाग के शिक्षण पाठ्यक्रम विश्वविद्यालयों द्वारा, विशेषत: संयुक्तराष्ट्र में, और भी परीक्षण के हेतु उपलब्ध हुए। भाषा-शिक्षण-विधि ने भाषाविज्ञान के प्रयुक्त होने से जो स्मरणीय सफलता प्राप्त की उसका

परिणाम यह हुआ कि संयुक्तराष्ट्र के बाहर मिश्र, अरब, हिन्देशिया तथा फिलीपाईन्स में विशिष्ट भाषा-प्रयोग-शालाओं की स्थापना हुई।

भाषण-दोषों के निवारण के लिए भाषाविज्ञान के शारीरिक-भैषज्य प्रयोगों के विषय में तथा गूंगे बहरों को बोधिगम्य भाषण के प्रारम्भिक तथ्यों को समझाने के लिए यान्त्रिक ध्वनि विज्ञान के प्रयोगों के विषय में विशेष विवरण प्रस्तुत कर मैं आप का समय नष्ट नहीं करना चाहता। ये आधुनिक भाषाविज्ञान के उपकरणों, साधनों तथा विधियों के विशिष्ट प्रयोग हैं।

३. यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी में बम्बई विश्वविद्यालय ने 'विल्सन फिलोलॉजिकल लेक्चरशिप' के रूप में एक प्राभृत स्वीकार किया और उसके अन्तर्गत संस्कृत, सैमेटिक, ग्रीक-लैटिन और अंग्रेजी—इन चार मुख्य शाखाओं पर वार्षिक व्याख्यान माला आयोजित हुई, तथापि भाषाविज्ञान का एक शिक्षण-विभाग स्थापित करने में किसी भी भारतीय विश्वविद्यालय ने विशेष प्रयास नहीं किये। सर्वप्रथम तुलनात्मक भाषाविज्ञान में प्रोफेसर पद की स्थापना कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रथम महासमर के ठीक पूर्व सन् १९१४ में हुई। प्रायः आठ वर्ष पश्चात् 'खैरा' प्राभृत के अन्तर्गत भारतीय भाषाविज्ञान पढ़ाने के लिए दूसरे पद की स्थापना हुई और डा० सुनीति कुमार चटर्जी उस पद पर कार्य करने के लिए आमन्त्रित किए गये। फिर, इस विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर स्तर पर तुलनात्मक भाषाविज्ञान का एक विभाग बना और उसके लिए पूर्ण स्नातकोत्तरीय पाठ्यक्रम की रचना हुई। सन् १९४८ तक भाषाविज्ञान को मुख्य विषय के रूप में स्वीकृत करने वाला भारतवर्ष में एक यही विश्वविद्यालय था। लंदन विश्वविद्यालय की पद्धति का अनुसरण करते हुए एम० ए० की प्रत्येक भाषा के प्रमुख पाठ्यक्रम में भाषाविज्ञान के कुछ तत्त्वों को (जैसा कि उन दिनों शीर्षक था—इसी शीर्षक से डा० तारपुरवाला की पुस्तक कलकत्ता विश्वविद्यालय प्रेस से प्रकाशित हुई थी) तत्सम्बद्ध भाषा के इतिहास के साथ रखा जाता था। किन्तु, इस विषय को योग्य अध्यापकों द्वारा ही पढ़ाने की समुचित व्यवस्था नहीं रखी गई और अधिकांश विश्वविद्यालयों में इसके अध्यापन में ऐसे अध्यापक रह गये जो अपने छात्रों को, बिना बौद्धिक अभिरुचि के, कुछ इने-गिने प्रश्नों के उत्तर देने के योग्य बनाते थे। इस प्रकार कलकत्ता विश्वविद्यालय ही भाषाविज्ञान पढ़ाने का मुख्य केन्द्र रहा।

सौभाग्यवश भारतवर्ष में भाषाविज्ञान की उन्नति के लिए, इस शताब्दी के द्वितीय दशक में भारत सरकार से स्थापित समुद्र पार की छात्रवृत्तियों द्वारा यह सम्भव हो सका कि हमारी प्रथम विद्वद्मण्डली समुद्र पार गई और यूरोप में भाषाविज्ञान के नवीन साधनों में कुशल हुई। लन्दन के 'स्कूल ऑफ ओरिएन्टल स्टडीज' तथा पेरिस विश्वविद्यालय के भाषाविज्ञान विभाग ने हमारे भाषाविदों को अधिकांशतया आकर्षित किया। जर्मनी के कुछ केन्द्रों ने भी हमारे विद्वानों को नई विधियाँ प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया। पाश्चात्य विधि में निष्णात इन विद्वानों के आगमन पर एक नये अध्याय का प्रारम्भ हुआ। यद्यपि कलकत्ता विश्वविद्यालय के अतिरिक्त अन्यत्र भाषाविज्ञान को मुख्य विषय के रूप में शिक्षण के लिए कोई विधिवत् स्नातकोत्तरीय केन्द्र स्थापित नहीं हुआ था, तथापि कई विश्वविद्यालयों में भाषा-शिक्षकों की इस ओर पर्याप्त अभिरुचि थी। कलकत्ते के पश्चात्

इस दिशा में जिसने निश्चित चरण उठाये, वह पंजाब विश्वविद्यालय था। कुछ समय तक लाहौर में प्रो० फ़र्थ अध्यापक रहे और इन्होंने वहाँ एक यांत्रिक ध्वनिविज्ञान की प्रयोगशाला भी स्थापित की। प्रो० वूलनर एक प्रेरणा देने वाले अध्यापक एवं संगठनकर्ता थे और उनके चारों ओर क्रमशः भाषाविज्ञान में अभिरुचि-सम्पन्न अध्यापकों की दृढ़ मण्डली बनती गई। ठीक आज से तीस वर्ष पूर्व अप्रेल सन् १६२८ में इस मण्डली के सदस्य प्रो० वूलनर के कार्यालय में एकत्र हुए और 'लिंग्विस्टिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया' की स्थापना हुई। अभी हाल में पूना में कुछ मास पूर्व आयोजित उपकुलपतियों और भाषाविदों के सम्मेलन में प्रस्तुत इस सोसाइटी के व्यापृतपत्र में इन नवीन उन्नतिशील गतिविधियों के लिए डा० चटर्जी, डा० सिद्धेश्वर वर्मा, डा० बागची आदि के महान कार्यों का उल्लेख किया जा चुका है। इसी प्रकार की क्रमिक अभिरुचि प्रयाग विश्वविद्यालय के संस्कृत एवं हिन्दी विभागों के अन्तर्गत भाषावैज्ञानिक अध्ययन एवं अनुसंधान के प्रोत्साहन में परिलक्षित होती है। परिस्थितियों की विलक्षणता से डा० बाबूराम सक्सेना ने प्रो० आर० एल० टर्नर से तथा डा० धीरेन्द्र वर्मा ने प्रो० ज्यूल ब्लाख़ से प्रशिक्षण ग्रहण किया। आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाविज्ञान के अनुसन्धान की इन दो शक्तिशाली धाराओं का पवित्र तीर्थराज प्रयाग में संगम हुआ और विशेषतः ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में पर्याप्त भाषावैज्ञानिक अनुसंधानों का श्रीगणेश हुआ।

ऊपर कहे गए केन्द्रों तथा उनके द्वारा निकटस्थ क्षेत्रों एवं विश्वविद्यालयों में जो प्रेरणा संचरित हुई, उसके अतिरिक्त १६३६ तक कोई विशेष उन्नति नहीं हुई। सन् १८२१ में बम्बई राज्य द्वारा जिस 'डेक्कन कालेज' की एक नैवासिक पूर्वस्नातक तथा स्नातकोत्तरीय कालेज के रूप में स्थापना हुई थी, वह सन् १६३४ में आय की कमी से बन्द हो गया। डेक्कन कालेज के भूतपूर्व छात्रों की समिति एवं बम्बई राज्य के बीच चार साल की निरन्तर बातचीत के पश्चात् राज्य ने डेक्कन कालेज को, मानों एक नवीन विश्वविद्यालय के मूल केन्द्र के समान, अनुसंधान एवं स्नातकोत्तरीय अध्ययन के लिए पुनर्जीवित करने का निश्चय किया। कालेज के पुन:संघठन में बम्बई शासन ने मानवशास्त्र तथा समाजशास्त्र के दो अनुसंधान विभागों की स्थापना करते हुए भाषाविज्ञान के लिए चार और इतिहास एवं समाज शास्त्र के लिए भी चार प्रोफेसर-पदों की स्थापना की और अनुसन्धान संस्थान की अगस्त १६३६ में अवतारणा हुई। भाषाविज्ञान के चार पद भारत-योरोपीय, द्राविड़, सैमिटिक तथा संस्कृत भाषाविज्ञान में थे। सितम्बर १६३६ में द्वितीय महासमर के प्रारम्भ ने डेक्कन कालेज के क्रियात्मक कार्यों को सीमित कर दिया और मौखिक उच्चारों के विश्लेषण के स्थान पर ग्रन्थों के विश्लेषण पर अधिक बल दिया गया। स्थापित यांत्रिक ध्वनि-विज्ञान-प्रयोगशाला भी भाषाविज्ञान के क्रियात्मक क्षेत्र में सहायक न होकर आधारभूत श्रवणरूप ध्वन्यात्मक उपपत्तियों की सहायक बन गई। इन प्रतिबन्धों के पश्चात् भी समग्ररूप से विभाग के कार्य की ओर देश के सभी भागों के विद्वान आकर्षित हुए और थोड़े समय में ही भाषावैज्ञानिक प्रशिक्षण तथा अनुसंधान का यह प्रमुख केन्द्र बन गया।

सन् १६४८ में बम्बई शासन ने अपने प्रादेशिक विश्वविद्यालयों में सर्वप्रथम पूना

विश्वविद्यालय स्थापित किया, जिसका डेक्कन कालेज एक अंग बन गया। अपने विधान के अनुसार विश्वविद्यालय ने भाषाविज्ञान की एक पाठ्यक्रम समिति स्थापित की। यद्यपि भाषाविज्ञान तबतक स्वतन्त्र रूप से एम० ए० का एक विषय नहीं बन पाया था तथापि शोधकार्य की पी० एच-डी० के स्तर पर परम्परा, जिसे भारतवर्ष के सभी भागों के विद्वानों को पूना ले आने का श्रेय है, विश्वविद्यालय की स्थापना से ही गतिशील है, जबकि दूसरी ओर, विश्वविद्यालय भाषाविज्ञान को एम० ए० का एक विषय बनाने का प्रयत्न कर रहा था। अपनी इस मन्द किन्तु निश्चित गति से भारत का पश्चिमी भाग पूर्व-स्थापित कलकत्ता के विभागों के समकक्ष होने का प्रयत्न कर रहा था और वस्तुतः पिछले आठ वर्षों से नेतृत्व करने लग गया।

बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में पूना और उस के आसपास के भाषाविज्ञान के विद्वानों ने भारतीय भाषाविज्ञान समिति की स्थापना की जो कि डेक्कनकालेज के भाषा-विज्ञान विभाग की पदेन बहिर्-शाखा के रूप में रही। इसकी स्थापना के समय, 'लिंग्विस्टिक सोसाइटी आफ इण्डिया' के मुख्य कार्य विभाग पहले से ही लाहौर छोड़ कर कलकत्ते के उपयुक्त वातावरण में स्थिर हो चुके थे : किन्तु उसकी चाल पैदल चलने वाले मनुष्य की थी। यद्यपि विश्वविद्यालय के धुरंधर धीर विद्वानों के समूह ने दृढ़तापूर्वक सतत प्रयत्न किए तथापि इसकी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ जब तक कि सन् १९५० में पश्चिमी बंगाल के शासन ने सोसाइटी के कमपृष्ठ वाले प्रकाशन 'इंडियन लिंग्विस्टिक्स' को २००० रुपए का वार्षिक अनुदान देना स्वीकृत न किया।

भारतीय सरकार ने भी भाषाविज्ञान की उन्नति में अभिरुचि प्रकट की और सन् १९४६ में डेक्कन कालेज को शिक्षाविभाग में दो योजनाएं प्रस्तुत करने के लिए प्रोत्साहित किया—(१) भारत का नृवंशीय भाषावैज्ञानिक सर्वेक्षण तथा (२) ऐतिहासिक सिद्धान्तों के आधार पर संस्कृत का शब्दकोष। जब यह विषय विचाराधीन था, राजनैतिक क्षेत्र में अनेक परिवर्तन हुए। विभाजन और उससे उत्पन्न भयंकर परिणामों के मूल्य पर देश ने ब्रिटिश शासन से स्वतन्त्रता प्राप्त की। परन्तु यहाँ यह कहना आवश्यक है कि जब राष्ट्रीय सरकार अपने शासन की व्यवस्था कर रही थी तब भी उसने इन योजनाओं के विचार की उपेक्षा नहीं की थी। सन् १९४८ मे केन्द्रीय सरकार ने डेक्कन कालेज द्वारा प्रस्तुत दोनों योजनाओं को सैद्धान्तिक रूप मे स्वीकृत कर लिया था और उस के लिए आंशिक अनुदान भी स्वीकृत किया था। उस समय यह दुर्भाग्य की बात रही कि नृवंशीय भाषावैज्ञानिक सर्वेक्षण की योजना आंशिक अनुदान के पश्चात् भी मूर्तिमान नहीं बन सकी। निस्सन्देह इस योजना के बनाने वालों ने इसकी व्यापकता को और इतने व्यापक कार्य में प्रयुक्त उपयुक्त विद्वानों के अभाव को दृष्टि में न रखा था।

१९५० के प्रारम्भिक वर्षों में डेक्कन कालेज द्वारा महत्त्वपूर्ण चरण उठाने के लिए पीठिका बन चुकी थी यद्यपि कालेज ने आगामी सूत्रों में जो महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व का कार्य किया उस का किसी को भी आभास न था। १९५१ के द्वितीयार्ध में रॉक्फेलर फाउन्डेशन के मानवता विभाग का एक प्रतिनिधि मेरे पास आया और उस ने कालेज का निरीक्षण किया। सन् १९५२ के प्रारम्भ में भारतवर्ष के अनेक स्थानों को देखता हुआ

वह पुनः पूना आया और उस ने भारत से अंग्रेजी के शनैः शनैः हटने तथा उस के स्थान पर प्रादेशिक भाषाओं के विकसित होने और अन्तर्देशीय विचार प्रेषणीयता के माध्यम की समस्याओं पर विचार परामर्श किया। क्या भाषाविज्ञान इन समस्याओं के समाधान में कुछ योग नहीं दे सकता ? इस विचार परामर्श और तत्पश्चात् पत्र व्यवहार के फलस्वरूप राक्फेलर फाउन्डेशन ने भारतीय भाषावैज्ञानिक अध्ययन की योजना निर्माण के लिए दस हजार डालर का प्रारम्भिक अनुदान देना स्वीकार किया। इस अनुदान को लेकर डेक्कन कालेज ने १९५३ की मई में पूना में एक निश्चित योजना को दृष्टि में रखते हुए भाषा-वैज्ञानिकों और शिक्षा-विशेषज्ञों की परिषद् का आयोजन किया। एक विस्तृत क्षेत्र में उनका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है : (१) भाषाविज्ञान में आधारभूत शोधकार्य, (२) भाषा शिक्षण एवं प्रसारण की महत्त्वपूर्ण क्रियात्मक समस्याओं पर शोधकार्य का प्रयोग, (३) भाषाविज्ञान के आधुनिक साधनों एवं विधियों से अभिज्ञ कराने वाले शिक्षण केन्द्रों की स्थापना। इन सब विषयों के सम्बन्ध में सभी भाषावैज्ञानिकों और साथ ही साथ शिक्षा-विशेषज्ञों में मतैक्य था और डेक्कन कालेज से आग्रह किया गया कि वह भाषाविज्ञान के शीतकालीन और ग्रीष्मकालीन स्कूलों की व्यवस्था के लिए चरण उठाये।

इन निर्णयों के परिणामस्वरूप तथा अमेरिका में भारत की प्रमुखभाषाओं के पर्याप्त ज्ञान प्राप्त करने की प्राथमिक आवश्यकता प्रतीत होने के कारण डेक्कन कालेज शोध-विद्यापीठ के संचालक को अमेरिका जाने के लिए निमन्त्रित किया गया ताकि वहाँ वे दोनों देशों की पारस्परिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने की सभी संभावनाओं पर विचार परामर्श कर सकें तथा वहाँ के शोध और शिक्षण केन्द्रों का निरीक्षण कर सकें और विद्वानों से भेंट कर सकें। इस निरीक्षण के पश्चात् ही राक्फेलर फाउन्डेशन ने ८९,००० डालर से अधिक का एक शानदार अनुदान डेक्कन कालेज को भाषाविज्ञान के तीन स्कूलों की व्यवस्था करने के लिए तथा भारत की कुछ विशिष्ट भाषाओं के अध्ययन के लिए तथा अमेरिका के दो-चार विद्वानों को अपने यहाँ रखने के लिए दिया। इन स्कूलों के शिक्षण-कार्य में सहायता देने के लिए अमेरिका और ब्रिटेन के उच्च भाषावैज्ञानिकों को निमन्त्रित किए जाने की भी व्यवस्था की गई तथा भारत के कुछ चुने गए शिक्षणार्थियों के प्रशिक्षण के लिए पूर्ण शिक्षण सत्र तक एक वरिष्ठ अमेरिकन भाषाविद् भी रखा गया। इन स्कूलों में से प्रथम स्कूल सन् १९५४ के शीतकाल में लगा। यह आप लोगों के लिए वास्तव में परम अभिनन्दनीय विषय है कि आपके संचालक महोदय डा० विश्वनाथ प्रसाद जी डेक्कन कालेज में प्रथम वरिष्ठ अभ्यागत भारतीय भाषाविज्ञानी मनोनीत हुए। अनेक कनिष्ठ एवं वरिष्ठ भारतीय विद्वान उच्च प्रशिक्षण के लिए अमेरिका भेजे गए। डेक्कन कालेज की योजना भाषावैज्ञानिक अध्ययन के पूर्ण उन्नयन तथा भाषाओं के प्रसारण एवं भाषा प्रशिक्षण की तात्कालिक समस्याओं का समाधान करने में प्रारम्भस्वरूप थी। इस प्रारम्भिक योजना के अठारह मास का मूल समय डेक्कन कालेज की अपनी दीर्घकालीन योजना के व्यापक तथ्यों को अंतिम रूप प्रदान करने के लिए छः महीने के लिए और बढ़ा दिया गया। इस प्रकार भाषाविज्ञान का चौथा स्कूल भी प्रारम्भिक योजना को विस्तृतरूप देते हुए उसी के अन्तर्गत हुआ।

अबतक के प्राप्त अनुभवों के आधार पर डेक्कन कालेज कई महत्त्वपूर्ण निष्कर्षो पर पहुँचा—(१) ग्रीष्मकालीन स्कूलों की व्यवस्था और शरत्कालीन विदग्ध गोष्ठियों की आयोजना के द्वारा इन शिक्षण-स्कूलों को आगामि पर्याप्त काल तक गतिशील रखने की आवश्यकता है, (२) भारतवर्ष में अभी तक भाषाविज्ञान के समस्त अंगों के शिक्षण के लिए पर्याप्त शिक्षित अधिकारी नहीं हैं, इसलिए यह उचित है कि विदेशों से, विशेषकर अमेरिका तथा योरोप से वरिष्ठ अभ्यागत भाषाविदों का सहयोग प्राप्त किया जाए तथा हमारे कनिष्ठ तथा वरिष्ठ उत्साही विद्वान् उच्चप्रशिक्षण के लिए विदेश भेजे जाँए, (३) जबतक प्रशिक्षित अधिकारी गण पर्याप्त नहीं हैं तब तक दीर्घकालीन शोध योजना कार्यान्वित नहीं हो सकती, तथा (४) भाषाओं के प्रसारण एवं शिक्षण जैसे भाषाविज्ञान के विविध परम आवश्यक क्षेत्रों में भाषाविज्ञान के प्रयोग की उस समय तक प्रतीक्षा की जाए जब तक कि इस विषय के अधिकारी विद्वान् प्रशिक्षित नहीं होते। अतएव यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि डेक्कन कालेज की प्रशिक्षण योजना उस समय तक गतिशील रहे जब तक कि अन्य विश्वविद्यालय सामूहिक अथवा एकाकी रूप से डेक्कन कालेज को इस उत्तरदायित्व से मुक्त न कर दें। इस प्रकार के निष्कर्षों से सहमत होकर राक्फेलर फाउन्डेशन ने डेक्कन कालेज को विश्वविद्यालयीय स्तर पर सभी रूपों में भाषा विज्ञान के उन्नयन की ओर प्रवृत्त अपनी प्रशिक्षण योजना को चालू रखने के लिए बहुत बड़ी मात्रा में अनुदान देना स्वीकार किया। इस अनुदान तथा इस भाषा योजना के संयोजकों में से अन्यतम 'लिंग्विस्टिक् सोसाइटी आफ़ इण्डिया' के क्रियात्मक सहयोग से, डेक्कन कालेज ने अपने कर्मक्षेत्र को विस्तृत करना प्रारम्भ किया जिस से कि सभी भारतीय विश्वविद्यालय भाषाविज्ञान के उन्नयन में क्रियाशील संयोजकत्व का भार संभाल लें। विश्वविद्यालयों से निमन्त्रणों की भरमार हो गई, और पूना से बाहर प्रथम स्कूल की व्यवस्था आगरा विश्वविद्यालय, 'लिंग्विस्टिक सोसाइटी आफ इण्डिया' और डेक्कन कालेज के संयुक्त तत्त्वावधान में गतवर्ष ग्रीष्म ऋतु में देहरादून में हुई। इस के पश्चात् अन्नामलाई विश्वविद्यालय के संयुक्त तत्त्वावधान में शरत्कालीन विदग्धगोष्ठी हुई तथा इस वर्ष का ग्रीष्मकालीन स्कूल उसी प्रकार मैसूर में लगा।

१९५४ ई० से डेक्कनकालेज ने इन ग्रीष्मकालीन स्कूलों और शरत्कालीन विदग्ध-गोष्ठियों के आयोजन किये हैं और तब से आठ सौ से अधिक शिक्षणार्थी व्यक्तियों ने इन से लाभ उठाया है। उनके द्वारा भारत के प्रत्येक विश्वविद्यालय और राज्य का प्रतिनिधित्व हुआ है। शिक्षण-विभाग का निर्माण सभी भारतीय विश्वविद्यालयों से प्राप्त वरिष्ठ विद्वानों तथा अमेरिका, इंगलेंड और स्केन्डीनेविया के कुछ एक विद्वानों से हुआ है। इस योजना के अन्तर्गत १५ विद्वानों को एक या दो वर्ष के विशिष्ट प्रशिक्षण के लिए, मार्ग में योरोप के ऐसे केन्द्रों को देखने का सुअवसर देते हुए, अमेरिका भेजा गया। नौ कनिष्ठ अमेरिकन भाषाविद् हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगाली, कन्नड़, तेलुगु, और मलयालम भाषाओं के विशिष्ट अध्ययन के लिए डेक्कन कालेज की योजना के अन्तर्गत कार्य कर रहे हैं। स्वयं हमारे देश में भाषाविज्ञान के प्रति उत्तरोत्तर लोगों की अभिरुचि बढ़ती गई है। जब मैंने सर्वप्रथम योजना बनाई थी तब मैंने सोचा था कि प्रथम स्कूल में तीस से अधिक शिक्षणार्थी

नहीं आएँगे किन्तु प्रथम शीतकालीन स्कूल में आशा से दुगुनी संख्या थी और अगले ग्रीष्मकालीन स्कूल में यह संख्या १७५ से भी अधिक थी। इन शिक्षणार्थियों में बहुत से विश्वविद्यालयों या उनके अंगीय अथवा सम्बद्ध कालेजों के शिक्षण-विभागों के थे। ऐसी विस्मयजनक संख्या की प्रबलता ने विश्वविद्यालयों का ध्यान आकर्षित किया और १९५४ से १९५८ के बीच के काल में क्रमशः आगरा विद्यापीठ जैसी संस्था सामने आई, तथा गुजरात, बड़ौदा, कर्नाटक, आंध्र, त्रिवेन्द्रम, और अन्नामलाई अदि विभिन्न विश्वविद्यालयों ने स्नातक एवं स्नातकोत्तरीय स्तर पर भाषाविज्ञान के अध्यापन के लिए या तो पूरे नियमित विभाग खोले या केवल प्रोफेसर-पद की स्थापना की। विश्वविद्यालयीय शिक्षणक्रम में भाषाविज्ञान को सम्माननीय स्थान देने के लिए जो यह झिझकता हुआ चरण उठाया गया है, वह इस तथ्य को स्वीकार कर रहा है कि इस प्रशिक्षण की सामयिक आवश्यकता है और इसका प्रयोग हमारी अधिकांश कष्टपूर्ण समस्यायों में सम्भव है।

कुछ मास पूर्व पूना विश्वविद्यालय ने, जिसकी कि डेक्कन कालेज एक अंगीय संस्था है, भाषाविज्ञान की उन्नति के लिए विश्वविद्यालयों द्वारा शक्य प्रयासों पर—विशेषतः इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि डेक्कन कालेज की कार्य-योजना अगले वर्ष समाप्त है—विचार करने के लिए उपकुलपतियों और भाषावैज्ञानिकों के एक सम्मेलन का आयोजन पूना में किया। सम्मेलन का उद्घाटन डा० देशमुख ने किया और लगभग सत्रह उपकुलपति या उनके प्रतिनिधिगण तथा देश के विभिन्न भागों के १८ भाषाविद् इसमें उपस्थित थे। दो दिन के विचारविमर्श के पश्चात् सम्मेलन एकमत से संक्षिप्ततया निम्ननिर्दिष्ट निष्कर्षों पर पहुँचा :—

(१) भाषाविज्ञान को भारत में विश्वविद्यालयीय शिक्षण में कुछ और अधिक प्रमुख स्थान ग्रहण करना चाहिए तथा भाषाविज्ञान के सर्वसाधनसम्पन्न और कार्यकुशल विभागों के निर्माण में क्रमिक विकास योजना द्वारा शीघ्र प्रभावशाली चरण उठाए जाने चाहिए।

(२) भाषाविज्ञान को पूर्वस्नातक तथा स्नातकोत्तर कक्षाओं में शिक्षण का विषय बनाना चाहिए।

(३) उपयुक्त समय के भीतर इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ग्रीष्मकालीन स्कूलों एवं शरत्कालीन विदग्धगोष्ठियों का आयोजन, जो कि इस समय डेक्कन कालेज द्वारा होता है, कम से कम आगामी दस वर्षों तक, 'लिंग्विस्टिक सोसाइटी आफ इंडिया' के सहयोग के आधार पर बारी-बारी विश्वविद्यालयों के सामूहिक सहयोग से होता रहे।

(४) स्नातक स्तर से लेकर शोध-स्तर तक भाषाविज्ञान के सभी अंगों के शिक्षण के लिए दो या तीन केन्द्रों की कुछ चुने हुए विश्वविद्यालयों में स्थापना होनी चाहिए।

(५) इसके साथ ही साथ देश के दूसरे अन्य विश्वविद्यालयों में भारत के प्रमुख भाषा परिवारों के तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन के लिए चार या पाँच केन्द्रों की स्थापना होनी चाहिए।

(६) 'लिंग्विस्टिक सोसाइटी आफ़ इंडिया' और विश्वविद्यालयों के सामूहिक

सहयोग से आधारभूत शोध कार्य के लिए भारत का एक नया भाषावैज्ञानिक सर्वेक्षण किया जाय।

अब हम 'लिंग्विस्टिक सोसाइटी आफ इंडिया' के आधुनिक इतिहास की ओर दृष्टि डालते हैं। सन् १९५४ में जब यह इंडियन रजिस्ट्रेशन एक्ट के अन्तर्गत पंजीकृत हुई तथा डेक्कन कालेज की भाषा-योजना में स्वयं क्रियाशील सहयोगी बनी, तब इसकी सदस्य-संख्या अक्टूबर १९५४ में ४० से कम थी और जून १९५८ के अन्त में यह संख्या बढ़कर ७०० से भी ऊपर हो गई। इस अल्पकाल में ही यह विस्मयजनक उन्नति सोसाइटी की परिपक्वता की इतनी अधिक सूचक नहीं है जितनी कि भाषाविज्ञान के प्रति बढ़ती हुई उस रुचि की सूचक है, जिसने कि देश के प्रत्येक कोने में व्यापक रूप ग्रहण कर लिया है। सोसाइटी की महत्ता में वृद्धि भारतीय विश्वविद्यालयों के उपकुलपतियों और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष द्वारा तभी स्वीकृत करली गई थी, जब सम्मेलन के अधिवेशन की समाप्ति में उन्होंने सोसाइटी से यह आग्रह किया कि वह भाषा-विज्ञान के विकास के लिए योजना-पत्र बनाने के लिए एक समिति का निर्माण करे और योजना-पत्र को अगले चरण उठाने के लिए विश्वविद्यालयों के पास भेजे। 'लिंग्विस्टिक सोसाइटी आफ़ इंडिया' ने अब एक 'समिति' का निर्माण किया है जो उपकुलपतियों और भाषावैज्ञानिकों --दोनों का ही प्रतिनिधित्व करती है और शीघ्र ही अपेक्षित योजना-पत्र बनाने के लिए तथ्यों के पता लगाने का विशिष्ट कार्य प्रारम्भ करने वाली है।

अब मैं अपने वक्तव्य के अन्तिम भाग में उस विषय का विवेचन करने जा रहा हूँ, जिसके कारण इस वक्तव्य का शीर्षक 'भारतीय भाषाविज्ञान का भविष्य' रखा गया है। विषय यह है कि भारतीय भाषावैज्ञानिकों के सम्मुख कौन-कौन से तात्कालिक कार्य करने को हैं।

रचनात्मक दृष्टि से भारतवर्ष में भाषासम्बन्धी अनियन्त्रित समस्याएँ और भाषा के अन्तःप्रसारण की अनेक कठिनाइयाँ हैं। कारण यह है कि भाषा एक ऐसा साधन है, जिसका प्रयोग हम में से प्रत्येक व्यक्ति करता है और प्रत्येक यही सोचता है कि वह इसके सम्बन्ध में सब कुछ जानता है; परन्तु वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अपरिचित हम अविवेक की अंधशक्तियों का पोषण करते हैं तथा अपने प्रतिदिन के पारस्परिक व्यवहार में व्यर्थ का उत्ताप भरते हैं। विवेकपूर्ण वातावरण में तथा कूपमण्डूक-ज्ञान से उत्पन्न क्षुद्र भावनाओं से कहीं ऊपर उठी वैज्ञानिक सूचना के माध्यम से सुलझाए जा सकने वाले नीति-सम्बन्धी प्रश्नों को सक्रिय वादविवाद का विषय बनने दिया जा रहा है। क्या इस प्रकार का आचरण कोई अणुविभंजक यन्त्रों अथवा अणुशक्ति-उत्पादक अन्य यन्त्रों के सम्बन्ध में करेगा? भाषा अणुशक्ति के अनियन्त्रित रूप से भी अधिक भयंकर बन सकती हैं; क्योंकि वह हमारे मस्तिष्क को, भावनाओं को एवं चेतना को प्रभावित करती है। भारतीय भाषाविज्ञान का उचित समन्वित ज्ञान हमारी सहायता के लिए शान्त-विवेक लाएगा और यदि कुछ प्रश्न बिना सुलझे रह जाएँगे तो, कम से कम वह एक अच्छे परिणामों के लिए उपयुक्त वातावरण अवश्य पैदा कर देगा। यदि हमारे नीति-निर्धाता अपनी राजनीति को भूल जाएँ और जिज्ञासा की सम्यक् भावना से भाषाविज्ञान के तत्त्वों को जान लें तो,

निश्चयत: भाषा-समस्या के दिन समाप्त हो जाएँगे । अतएव प्रत्येक भाषाविज्ञानी का यह कर्त्तव्य है कि वह इसका ध्यान रखे कि उसके द्वारा विश्लेषण की हुई विशुद्ध वैज्ञानिक सूचना साधारण व्यक्ति के लिए सुबोध रूप में पहुँचे ।

सहन-शक्ति तो भारतीय सभ्यता की प्रमुख विशषता है । भाषावैज्ञानिक समस्याओं का ज्ञान शिक्षित व्यक्ति की प्रथम चेष्टा थी—'मुखं व्याकरणं स्मृतम्' । अतएव स्कूल-जीवन में भाषाशिक्षण के अन्तर्गत जहाँ तक सरलतया समझा जा सके, वहाँ तक भाषाविज्ञान सिखाना चाहिए, किन्तु ऐसा करने के लिए हमें समर्थ अध्यापकों की आवश्यकता है । हमें ऐसे अध्यापकों का निर्माण इन ग्रीष्मकालीन स्कूलों तथा विश्वविद्यालयों के भाषाविज्ञान के विभागों के द्वारा करना है ।

इनके अतिरिक्त भाषाविज्ञान की एक विस्तृत सामग्री है जो आदर्श भाषा-क्षेत्र पर व्याप्त हमारी स्थानीय भाषण-रीतियों, उप-आदर्श भाषाओं और बोलियों में संचित है । बहुत-सी असंस्कृत भाषाओं के रूप हैं जो कि भाषावैज्ञानिक सामग्री की दृष्टि से बड़े समृद्धशाली हैं किन्तु आज अनिवार्य-शिक्षा, रेडियो, सिनेमा और समाचार पत्रों द्वारा आदर्श भाषा के छाजाने से प्राय मृत हो रहे हैं । बहुत बड़ी संख्या में आदिम भाषाएँ और बोलियाँ आज अपने तात्कालिक आलेखन और विश्लेषण के लिए क्रन्दन कर रही हैं । यदि हमें मानव-भाषाओं की विभिन्नताओं का अध्ययन करना है और इन्हें मानव समाज के ज्ञानक्षेत्र में वैज्ञानिक प्रगति के लिए सुरक्षित रखना है तो इन्हें शीघ्र संचित करना होगा और इन का तुरन्त विश्लेषण करना होगा । कई वर्ष पूर्व भारत सरकार ने यह अनुमान लगाया था कि इस विशाल क्षेत्र की मनोरंजक सामग्री को, पूर्णतया नष्ट होने के पूर्व, अध्ययन के लिए कम से कम दो हज़ार समर्थ और शिक्षित भाषाविज्ञान के क्षेत्रीय कार्यकर्त्ताओं की सेना चाहिए । बोलियों के सर्वेक्षण का और बोलियों के भूगोल का आधार-भूत कार्य आज की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है और इस पर तुरन्त ध्यान देना चाहिए ।

बारह भाषाओं से भी अधिक भाषाएँ पहले से ही हमारे संविधान में मान्य हैं और कुछ अन्य भाषाएँ भी हैं जो अपनी मान्यता के लिए माँग कर रही हैं और उनके विकास के लिए संविधान ने वचन दे दिया है । इस प्रकार हमारे सम्मुख दो प्रकार की समस्याएँ हैं—इन भाषाओं को साधन-सम्पन्न बनाना ताकि, वे भविष्य में प्रत्येक विषय के ज्ञान की पराकाष्ठा तक शिक्षण का माध्यम बन सकें, और इन भाषाओं को बहुत थोड़े समय में अत्युत्तम रीति से शिक्षित वयस्कों को पढ़ाना । यहाँ भाषाशिक्षण पद्धति में भाषाविज्ञान का प्रयोग एक नया क्षेत्र प्रकट करता है । उदाहरणार्थ, अहिन्दी भाषा-भाषियों में हिन्दी प्रशिक्षण की समस्या लीजिये । आज हाई स्कूल कक्षाओं में हिन्दी-व्याकरण के कुछ अंग संस्कृत व्याकरण से आंख मींच कर नकल किए गए हैं और वे हिन्दी के संघटना के वास्तविक अन्त:स्वरूप को नहीं प्रकट करते हैं । अभी हाल ही में मुझे मैट्रीकुलेशन परीक्षा के प्रश्न-पत्रों को देखने का अवसर प्राप्त हुआ, वहाँ उधार लिए शब्दों पर संस्कृत व्याकरण का ढांचा थोपा गया था और विद्यार्थियों से उनकी व्याख्या करने के लिए कहा गया था । हमारी भाषा-शिक्षण-पद्धति में पूर्णत: नवनिर्माण की आवश्यकता है । हमें मातृ-भाषा अथवा प्रादेशिक भाषा जैसे अंग्रेजी, प्राचीन भाषाओं के तत्त्व जैसे संस्कृत, अरबी,

फ़ारसी—इस प्रकार कम से कम तीन, अच्छा तो यह है कि चार या उस से भी अधिक, भाषाएँ सीखनी हैं; केवल एक या दो भाषाओं से काम नहीं चलता है । इस प्रश्न पर बहुत बड़े अनुपात में व्यर्थ ही विरोध उठाया जाता है । भाषाएँ सीख कर हम क्या करना चाहते हैं ? अतिरिक्त भाषाओं के ज्ञानार्जन का क्या उपयोग होगा ? अन्य भाषाओं का सीखना एक बच्चे के लिए कितना भारी बोझ बनेगा ? ये प्रश्न वैज्ञानिक रीति से नहीं सुलझाए गए हैं । नाना प्रकार के मत प्रकट किए जाते हैं और प्रमाणस्वरूप आप्त-वाक्य उद्धृत किए जाते हैं, जबकि हमारे नीतिनिर्धाता स्वयं वस्तुस्थिति से अनभिज्ञ हैं । यह एक चुनौती है जिसे भाषाविज्ञान को स्वीकार करना चाहिए और वैज्ञानिक पर्यवेक्षण से ऐसी समस्याओं का समाधान निकालना चाहिए । यह एक विज्ञान और संख्याशास्त्र का युग है । जीवन बहुत थोड़ा है और हमें पूर्व और पश्चिम के प्रगतिशील राष्ट्रों के समकक्ष आने के लिए बड़ा संघर्ष करना है । परन्तु चूंकि समस्त प्रगति मूलतः भाषा और सभी स्तरों के विचारों को उसके द्वारा अभिव्यक्त करने की अन्तःशक्ति के साथ जुड़ी है, अतएव हम भाषावैज्ञानिकों का इस नवीन विकास में बहुत न्यायपूर्ण स्थान है; यदि हम अपनी कला को उपयोग में लाएँ और अपने विज्ञान का प्रयोग, असन्तुलन अथवा भावतिरेक से अछूते रह कर, देश की सामान्य भलाई में करें ।

मैं अपने सामने विकास का खुला क्षेत्र पा रहा हूँ । डा० देशमुख ने विश्वविद्यालयों में अन्य विषयों के साथ सामञ्जस्य रखते हुए समन्वित रूप में भाषाविज्ञान के विकास के पक्ष में बड़ी दृढ़ता से विचार प्रकट किए हैं । विश्वविद्यालयों के उपकुलपतियों ने इस बात को स्वीकार किया है कि भाषा की अध्ययनप्रणाली का नवीकरण कर तथा भाषाविभागों को भाषाविज्ञान एवं भाषा-शिक्षण में योग्य भाषावैज्ञानिकों से साधन-सम्पन्न कर, भाषाविज्ञान को उचित स्थान प्रदान किया जाए । 'लिग्विस्टिक सोसाइटी आफ इण्डिया' द्वारा नियुक्त समिति शीघ्र ही योजनापत्र तैयार करेगी । भाषा की शिक्षणपद्धतियों में भी भाषाविज्ञान का व्यवहार किया जाएगा और इस प्रकार की प्रथम शिक्षणसंस्था इंगलिश-शिक्षण-विद्यापीठ होगी जो शीघ्र केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय, फोर्ड फाउन्डेशन और ब्रिटिश काउन्सिल के सामूहिक उत्तरदायित्व में हैदराबाद में स्थापित की जाएगी । मैं इस से भी आगे भाषण-सुधार में, या जैसा कहा जाता है, भाषणरोग-भैषज्य में भाषाविज्ञान के प्रयोग की आशा लगा रहा हूँ । आगामी दस वर्षों के भीतर ही प्रत्येक विश्वविद्यालय कम से कम भाषा-विज्ञान का एक बहु-विभाग-संलग्न किन्तु पृथक् सत्ता वाला पत्रीय-विभाग अवश्य खोल देगा और वे सब सहयोगपूर्वक ग्रीष्मकालीन स्कूल अथवा भारत के नए भाषावैज्ञानिक सर्वेक्षण योजनाओं का पोषण करेंगे । मुझे यह दृष्टिगोचर हो रहा है कि इस विषय में अधिक साहस रखने वाले कतिपय विश्वविद्यालय व्यावहारिक भाषाविज्ञान के विशिष्ट विभाग खोलेंगे ।

इस नए विकास में मैं 'लिंग्विस्टिक् सोसाइटी आफ़ इण्डिया' के योग को, तथा उस से सम्बद्ध कर्मठ कार्यकर्त्ताओं से चालित अनेक स्थानीय भाषाविज्ञान-केन्द्रों के योग को—एक प्रबल योग को—पहले से देख रहा हूँ । मुझे हर्ष है कि कुछ सीमा तक भारत में इस नये विकास से मैं सम्बद्ध हूँ—इस नए विकास से जिसे प्रारम्भ करने का मेरे विद्यापीठ को श्रेय

है और जिसमें भारत के सभी प्रमुख भाषावैज्ञानिकों ने किसी न किसी रूप में सहयोग प्रदान किया है। मैं उस दिन की—कुछ सन्तुष्टि और कुछ प्रसन्नता से—आशा में हूँ जब कि पिछले पांच (१९५३–५८) वर्षों से डेक्कन कालेज द्वारा गृहीत उत्तरदायित्व भारत के विश्वविद्यालयों द्वारा ग्रहण किया जाएगा तथा विश्वविद्यालयीय शिक्षण में भाषाविज्ञान एक केन्द्रीय विषय के रूप में प्रतिष्ठित होगा।

मैंने आपके सम्मुख अपने भाषण का प्रारम्भ भारत के महान् आचार्यों, विशेषतः उन सबके सम्राट पाणिनि, के उल्लेख से किया था। मैं अपने भाषण की समाप्ति भी उसी प्रकार करना चाहूँगा। आज २५ शताब्दी से अधिक का समय व्यतीत हो चुका है, जब मानव-ज्ञान-क्षेत्र में अभी तक अदृष्ट अत्यन्त विचक्षण कृति पाणिनि ने प्रदान की तथा अपने समय की बोली जाने वाली भाषा का सर्वाधिक पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया। हमें कम से कम भाषाविज्ञान में, जो विश्व के लिए भारत की देन है, यह आशा करनी चाहिए कि सिद्धान्त और प्रयोग दोनों रूप में हम पुनः प्रामुख्य प्राप्त कर लें और हममें इन उपलब्धियों को विभूषित करने के लिए पाणिनि के श्रेष्ठ उत्तराधिकारी का आविर्भाव हो। उस महान घटना के लिए अन्ततः रंगमच बन रहा है और ईश्वर करे हममें से कुछ उस दिन को देखने के लिए जीवित रहें। ओम् शान्तिः।

श्री परशुराम चतुर्वेदी

आजीवकों का नियतिवादी सम्प्रदाय

"आजीवक" शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में सभी विद्वान् लेखक एक ही मत व्यक्त करते हुए नहीं दीख पड़ते। बुर्नो (Burnouf)को इसका मूल रूप "अजीव" शब्द जान पड़ा है जिसका अर्थ "किसी जीविका का अभाव" हो सकता है और इस आधार पर उन्होंने आजीवक उस व्यक्ति को बतलाया है जो दूसरों के दान पर निर्भर रहता हो। किन्तु लासेन (Lassen) ने भी, प्रायः इसी व्युत्पत्ति के अनुसार, आजीवक उस संन्यासी को कहा है जो किसी प्राणी का मांस नहीं खाया करता। इस प्रकार स्पष्ट है कि ये लोग "जीव" शब्द के पहले "अ" उपसर्ग लगाकर उसकी वृद्धि कर देते हैं और इस बात की ओर ध्यान नहीं देते कि उस शब्द का एक पर्याय "जीवक" भी हुआ करता है।[1] इसके विपरीत होर्नले (Hoernley) "आजीवक" शब्द को "आजीव" से ही सिद्ध करते हैं जिसका अर्थ वे कोई भी ऐसी जीवन-पद्धति व जीविका ठहराते हैं जो न केवल किसी गृहस्थ की, अपितु किसी धार्मिक साधु की भी हो सकती है और इसी कारण, आजीवक होना भी उनके अनुसार ठीक उसके उपयुक्त आचरण करने की ओर ही संकेत करता है। इस मत के प्रमाण में वे इस बात की ओर भी हमारा ध्यान दिलाते हैं कि आजीवक गोशाल तथा उसके अनुयायियों को लोग "व्यवसायी" वा "पेशेवर" भी कहा करते थे। परन्तु इतिहास से पता चलता है कि "आजीवक" शब्द के अर्थ की व्यापकता पहले केवल गोशाल और उनके अनुयायियों की ही उपाधि तक सीमित नहीं थी। इसके सिवाय "पण्डर-जातक" की कथा से प्रकट होता है कि एक बार पांच सौ व्यापारी नौका लेकर समुद्र में उतरे, किन्तु सातवें दिन तक भी उन्हें कोई किनारा नहीं मिला। उनकी नौकाएँ टूट गईं और एक को छोड़कर अन्य सभी व्यापारी मच्छों के पेट में जा पहुंचे और वह भी एक हवा के वेग से किसी करम्बिय-पत्तन पर जा लगी। उसके पास कोई वस्त्रादि भी नहीं थे, इसलिए वह उस पत्तन में नंगा ही भिक्षा मांगने लगा और वहां के लोगों ने उसे अल्पेच्छ श्रमण समझ उसका सत्कार किया। अतएव, उसने सोचा कि नंगा रहना ही भला "मेरी जीविका का एक अच्छा साधन मिल गया है" और तदनुसार उसने किसी से वस्त्र लेना अस्वीकार भी कर दिया।

---

१. डा० ए० एल० बशम "हिस्ट्री ऐंड डाक्ट्रिन्स आफ़ दि आजीवकाज" (लूजक ऐंड कंपनी, लिमिटेड, लंडन, सन् १९५१) पृ० १०१।

फिर तो उसकी प्रतिष्ठा वहां पर और भी अधिक बढ़ गई और वह "करम्बिय अचेल" के नाम से प्रसिद्ध हो गया।[१] उस व्यक्ति ने "मेरी जीविका का साधन मिल गया" वाक्य को "लद्धो में जीविकोपायो" रूप में प्रकट किया था जिस कारण इसे भी उपर्युक्त मत के समर्थन में हो उद्धृत किया जाता है।

एक अन्य मत इस आशय का भी दीख पड़ता है कि "आजीवक" शब्द का "आजीव" संभवत: "यावज्जीवम्" अर्थात् "जीवन भर" का बोधक है और इसके प्रमाण में भी बौद्ध ग्रंथ "दीर्घ निकाय" की एक कथा कही जाती है जिसके अनुसार भगवान बुद्ध को वैशाली में एक ऐसा भिक्षु मिला था जो सात "आजन्म व्रतों" का पालन करता था। उसका नाम कंडर मासुक था और उसका पहला व्रत इस प्रकार का था "यावज्जीवं अचेलको अस्सं, नवत्थं परिदहेय्यं" अर्थात् "जब तक जीऊंगा कोई वस्त्र नहीं पहनूंगा नग्न रहा करूंगा। परन्तु स्पष्ट है कि कंडर मसुक को यहां पर "अचेल" (वस्त्रहीन) मात्र कहा गया है, उसे आजीवक भी नहीं बतलाया गया है जिसके, नग्न बनकर रहने के अतिरिक्त, अन्य लक्षण भी हो सकते हैं। फिर भी, इस कथा में आये हुए "यावज्जीवम्" शब्द से संकेत पाकर, डा० बशम ने "आजीवक" को "आजीवात्" जैसे किसी शब्द के आधार पर सिद्ध करना कहीं अधिक उचित हो सकता है जिसकी ओर सबसे पहले हमारा ध्यान डा० केर्न ने दिलाया था। "आ" उपसर्ग का प्राय: "तक" वा "तब तक" जैसा कोई सीमा वा अवधि का सूचक अर्थ होता है जिस कारण, उसके "जीव" के पहले आ जाने से, जीवन पर्यंत का अभिप्राय असंभव नहीं है। डा० बशम ने इस संबंध में "आश्वलायन श्रौत सूत्र" (३-१४) में आये हुए "यावज्जीविक" शब्द को भी उद्धृत किया है और कहा है कि न केवल वे सूत्र अत्यंत प्राचीन हैं और वे गोशाल के पहले के भी हो सकते हैं, अपितु, यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि, वहां पर भी उस शब्द का प्रयोग तपश्चर्या के लिए लिये गए व्रत की अवधि के ही निमित्त हुआ है। इसके सिवाय उन्होंने इसी शब्द के प्राकृत रूप "जावज्जीवाए" के प्रयोग का जैन ग्रंथ "भगवती सूत्र" (३-१३३) में भी होना बतलाया है। अतएव, उन्होंने यह परिणाम भी निकाला है कि "यह किसी प्रकार असंभव नहीं कि "आजीवक" शब्द का भी अभिप्राय, इसका प्रयोग करने वाले किसी धार्मिक वर्ग के लिए, वैसा ही हो सकता है और इससे प्रकट होता है कि मक्खलि गोशाल के अनुयायियों तथा अन्य प्रकार के आजीवकों ने भी इसका प्रयोग, अपने व्रतों के आजीवन व्यापी होने के कारण, किया था।"[२] यह संभवत: उन व्रतों से भिन्नता सिद्ध करने के लिए भी हो सकता था जो बौद्ध संघों के अंतर्गत केवल अल्पकालिक मात्र ही हुआ करते थे। डा० बशम का यह मत, कदाचित्' उन सभी मतों से अधिक समीचीन सिद्ध किया जा सके जिनकी चर्चा पहले की गई है, किन्तु फिर भी इसे हम अभी सर्व सम्मत नहीं कह सकते।

डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने सन् ६५० ई० पू० से लेकर सन् ३२५ ई० पू० तक के उत्तरी भारत की धार्मिक दशा का वर्णन करते हुए "अंगुत्तर निकाय" के आधार पर,

१. पण्डर जातक (५१८) "हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग" (भा० ५) पृ० १६३।
२. "हिस्ट्री आफ दि आजीवकाज", पृ० १०३।

बतलाया है कि उस युग में भिक्षुओं के अनेक संप्रदाय थे और, उनमें से बोद्धों से इतर ऐसे वर्गों में से, उन्होंने १० संप्रदायों के नाम लिये हैं जिनमें से पहला "आजीविक" कहा गया है तथा इसके अनुयायियों के लिए बतलाया गया है कि वे "नंगे रहा करते थे और आहार-वृत्ति के संबंध में अत्यन्त कठोर नियमों का पालन करते थे।"[1] इसी प्रकार "दीघ निकाय" के "सामञ्ज सुत्त" से भी पता चलता है कि जिस समय भगवान् गौतम बुद्ध मगध की राजधानी राजगृह में वास कर रहे थे उन दिनों राजा अजातशत्रु ने अपने लिए आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता का अनुभव किया और, इसके लिए, उसके ६ मंत्रियों ने क्रमशः ऐसे ६ धार्मिक नेताओं के नाम लिये जो उसका संदेह दूर कर सकते थे। ये ६ धर्म प्रचारक विचार-स्वातंत्र्य के प्रेमी थे और इनके नाम क्रमशः पूरणकुस्सप, मक्खलि गोशाल, अजित केस कम्बलि, पकुध कच्चायन, संजय बेलट्ठिपुत्र एवं निगंठ नातपुत्र थे तथा इनके लिए यह भी समझा जाता था कि ये किसी न किसी पंथ के प्रसिद्ध संस्थापक हैं, "साधु सम्मतों" (संत) है तथा बहुत दिनों से प्रव्रजित एवं वृद्ध भी हैं। डा० बशम का अनुमान है कि इन छहों में से पूरण कस्सप, मक्खलि गोशाल एवं पकुध का संबंध आजीवक मत के साथ रहा हो सकता है और इसे उन्होंने सिद्ध करने की भी चेष्टा की है[2] "सामञ्ज फल सुत्त" के उल्लेखों से यह भी पता चलता है राजा अजातशत्रु ने इन नामों को सुन कर मौन ग्रहण कर लिया और जीवक के आग्रह पर उसने भगवान् बुद्ध से भेंट की। वास्तव में बौद्ध ग्रन्थों एवं जैन ग्रन्थों के भी अंतर्गत आजीवकों को किसी प्रतिष्ठा वा सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा गया है और उनकी तीव्र आलोचना तक भी की गई है। इसके सिवाय संस्कृत के कुछ पुराने ग्रन्थों से भी प्रकट होता है कि इनके विषय में, कदाचित्, सर्वसाधारण की धारणा बहुत पीछे तक भी अच्छी नहीं रही होगी। कौटिल्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ "अर्थशास्त्र" में आता है कि "जो गृहस्थ देवपितरों के कृत्यों के उपलक्ष में शाक्यों (बौद्ध), आजीवकों आदि नीच प्रव्रजितों को खिलाता है उसे १००पण दंड देना होगा,,।[3] इसी प्रकार "वायु पुराण" के अंतर्गत भी "आजीवों" को "अधार्मिक" कहा गया है[4] तथा कुमार दास की प्रसिद्ध रचना "जानकी हरण" में भी आता है कि सीता ने रावण को, अपनी ओर आते समय, किसी "दंभ आजीवक, उत्तुंग जटाधारी तथा मस्करी के रूप में देखा।"[5] परन्तु, इस प्रकार के अनेक अवतरणों के भी आधार पर, अभी तक यह निश्चित रूप से बतलाना संभव नहीं कि आजीवक संप्रदाय का आरंभ वस्तुतः किस काल में एवं किसके द्वारा हुआ था तथा किस समय से उसके अनुयायियों को बुरा-भला कहा जाने लगा।

---

१. डा० राधाकुमुद मुकर्जी: "हिन्दू सभ्यता" (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९५५), पृ० २१५।
२. "हिस्ट्री आफ़ दि आजीवकाज़", पृ० १७, २३५, ८० —१, ई०।
३. "शाक्याजीवकादीन् वृषल प्रव्रजितान् देवपितृकार्येषु भोजयतः सत्यो दण्डलः" (३०२०)।
४. "अधार्मिका जनाते वे आजीवा विहिताः सुरैः" (६९-२८५)।
५. "दम्भ आजीविक मुत्तुंग जटामण्डित मस्तकं कञ्चिन्मस्करिणं सीता ददर्श आश्रम मागतम्" (१०-७६)।

इतना स्वीकार कर लेने में कदाचित् कोई भी आपत्ति नहीं की जा सके कि आजीवक संप्रदाय भगवान बुद्ध एवं महावीर के समय अवश्य विद्यमान था। यह उन परिव्राजकों का एक विशिष्ट वर्ग था जिनकी रहन-सहन एवं क्रिया-कलापादि का रूप उस समय प्रचलित अन्य संप्रदायों से बहुत कुछ भिन्न था और जिनके मतवाद से भी दूसरों का कोई मेल न था। यही कारण है कि बौद्धों, ब्राह्मणों एवं जैनों के ग्रन्थों में उन्हें अधिकतर नीच, विधर्मी एवं हेय तक ठहराने के प्रयत्न किये गये हैं और उनकी हंसी तक भी उड़ाई गई है। ऐसे कई परिव्राजकों ने अपने-अपने अनुयायियों को संगठित करके कुछ संघों की भी स्थापना कर दी थी जिनमें आपस में बहुत मतभेद नहीं था। उस समय मगध की ओर ऐसे कुछ व्रात्यों का भी एक वर्ग था जो प्रचलित आर्यधर्म के विरुद्ध मत रखते थे और जिनमें विचार-स्वातंत्र्य की भावना भी बहुत प्रबल थी। वे भी अधिकतर भ्रमणशील हुआ करते थे और यज्ञादि कृत्यों का घोर विरोध करते तथा स्वकल्पित विविध साधनाओं में निरत रहा करते थे। उनका प्रमुख केन्द्र मगध का प्रदेश था जहां विरोचित लोक-गीतों के गाते फिरने वाले "मागधों" की भी कमी नहीं थी और कुछ लोगों का अनुमान है कि आजीवक संप्रदाय का प्रचारक मक्खलि गोशाल पहले एक "मंख" था जिस शब्द को हेमचंद ने, "अभिधान चिंतामणि" की टीका लिखते समय, उक्त "मागध" शब्द का समानार्थ सिद्ध करने की भी चेष्टा की है।[1] जैन धर्म के ग्रन्थ भगवती सूत्र (१५-५४०) से पता चला है कि भगवान् महावीर के अपने अनुयायी इन्दभूइ गोयम को बतलाया था कि "मेखलियुत्त" का पिता मेखलि नाम का था और उसकी माता भद्दा कहलाती थी तथा, अभयदेव के अनुसार, मंख उस परिव्राजक को कहते थे "जो अपने हाथ में कोई चित्र-फलक लिये फिरता था। अतएव यह असंभव नहीं कि "मंख" शब्द द्वारा सूचित किया जाने वाला व्यक्ति धार्मिक चित्रों का प्रदर्शन किया करता था तथा धार्मिक गीतों का गान करता भी फिरा करता था।[2] प्राचीन भारत में इस प्रकार के व्यक्तियों के होने का एक संकेत विशाखदत्त की प्रसिद्ध रचना "मुद्राराक्षस" में भी मिलता है जहाँ बतलाया गया है कि किस प्रकार कोई गुप्तचर प्रच्छन्नवेश में, अपने हाथ में एक "यमपट्ट" लिये हुए द्वार-द्वार घूमा करता था और यमचित्र प्रदर्शित कर धार्मिक गीत भी गाता था। डा० बशम ने इस प्रकार के छिटपुट उल्लेखों के आधार पर यह परिणाम निकाला है कि आजीविक मत के नियतिवाद का प्रचार सर्वप्रथम संभवतः मगध प्रदेश की ही किसी बोली में हुआ होगा और उसके प्रमुख आचार्यों में मक्खलि गोशाल, पूरण कस्सप तथा पकुध कच्चायन के नाम लिये जा सकते हैं।[3]

(२)

मक्खलि गोशाल को प्रायः सभी लोगों ने आजीवक संप्रदाय का सर्वश्रेष्ठ प्रचारक माना है। "मक्खलि गोशाल" नाम केवल पालि ग्रंथों में मिलता है। बौद्ध धर्म के ही संस्कृत ग्रन्थों में यह शब्द "मस्करिन गोशाल" के रूप में पाया जाता है। अथवा

---

१. "अभिधान चिंतामणि" (५-७९५)।
२. "हिस्ट्री आफ दि आजीवकाज" पृ० ३५।
३. वही, पृ० २६।

"महावस्तु" जैसे कतिपय ग्रंथों में "गोशालिका पुत्र" अथवा "गोशालि पुत्र" तक हो जाता है फिर इसी नाम का एक रूप जैन ग्रंथों के अंतर्गत "गोशाल मंखलि पुत्र" होकर दीख पड़ता है और तमिल भाषा की रचनाओं में इसका एक अन्य रूप "मड़कलि" भी मिलता है इसी प्रकार, "महाभारत" के "शान्ति पर्व" में आये हुए "मंकि" शब्द को भी यदि इसी ओर सूचित करता हुआ मान लिया जाय तो, वह इसका एक और भी नया रूप हो सकता है। इसके सिवाय बुद्धघोष ने अपनी "सामञ्ज फल सुत्त" की टीका में किसी एक घटना का भी उल्लेख किया है और बतलाया है कि गोशाल एक दास था और जब वह एक तेल का बर्त्तन लिये हुए कीचड़ से होकर जा रहा था उसके मालिक ने उसे डांट कर कहा "अरे भाई, गिर न पड़ना" (तात, मा खल, इति)। परन्तु गोशाल अपने को संभाल न सका और, उसके फिसल कर तेल गिरा देने पर, उसके मालिक ने दौड़ कर उसका वस्त्र पकड़ लिया जो, इसी कारण, खुल गया। फलतः गोशाल अपनी जान बचा कर नंगा ही भाग खड़ा हुआ और उक्त "माखल इति" के आधार पर उसका नाम ही "मक्खलि" पड़ गया। परन्तु यह घटना कोरी कल्पना मात्र ही जान पड़ती है और यह, प्रत्यक्षतः, "मक्खलि गोशाल" नाम के आधार पर ही गढ़ी गई प्रतीत होती है। होर्नले का अनुमान है कि "मक्खलि" शब्द किसी व्यक्ति के नाम का सूचक न होकर, वस्तुतः वर्गवाचक हो सकता है और वह मूलतः, साधुओं के "मंखलि" अथवा "मस्करिन" शब्द का एक रूपांतर होगा। पाणिनि ने "मस्करिन" शब्द का प्रयोग किसी ऐसे साधु के लिए किया है जो बांस का एक दंड लिये रहा करता था।[1] इस बात का समर्थन "तित्तिर जातक" में आये हुए एक प्रसंग से भी होता है जहां पर (संभवतः किसी आजीवक परिव्राजक के ही विषय में) उसका "बेत्ता चारों सकुं पथोपि चिण्णों" होना बतलाया गया है।[2] यहाँ पर "बेत्त" शब्द का अर्थ बाँस किया गया है और, इस प्रकार, उस वाक्य का अर्थ "बांस का दंड लेकर जंगल में घूमने वाला" "समझ लिया गया है। इस प्रकार, यदि यह ठीक हो तो "मस्करिन" वा "मक्खलि" अथवा मंखलि शब्द गोशाल की एक उपाधि के रूप में प्रयुक्त होता था और वही पीछे उसके मुख्य नाम का बोधक बन गया। यों तो बौद्ध एवं जैन ग्रंथों में उसे कभी-कभी "तीर्थ कर", "जिन", "अर्हत", और "केवलिन" भी कहा गया मिलता है तथा तमिल में मड़कलि के लिए किसी "आप्तण" शब्द का भी प्रयोग हुआ है (जो, कदाचित्, उसके आप्त पुरुष होने का भी सूचक हो) किन्तु, साधारणतः वह बराबर "मक्खलि" कहला कर ही प्रसिद्ध रहा।

मक्खलि के साथ प्रायः पाये जाने वाले "गोशाल" शब्द के लिए भी कहा जाता है कि उसका प्रयोग साभिप्राय किया गया है। "भगवती-सूत्र" में किये गये उल्लेखों से जान पड़ता है कि जिस समय मक्खलि की माता भद्दा गर्भवती थी उस समय वह अपने पति मंखलि के साथ किसी "सरवण" ग्राम में गई। वहां पर कोई गोबहुल नाम का धनी गृहस्थ रहा करता था जिसकी गोशाला में मंखलि ने भद्दा और अपने सब सामान को कुछ समय के लिए छोड़कर कोई स्थान ढूंढना निश्चित किया। परन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी जब

---

१. "मस्कर मस्करिणौ वेणु परिव्राजकयोः" ("अष्टाध्यायी", ६-१-१५४)।

२. "तित्तिर जातक" (४३८)—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग (भा० ४) पृ० २०१।

उसे उस ग्राम के भीतर कोई दूसरा अधिक उपयुक्त स्थान नहीं मिल सका तो वे दोनों पति-पत्नी उस गोशाले के ही किसी कोने में ठहर गए। तत्पश्चात् भद्दा के गर्भ से वहीं पर शिशु मक्खलि का जन्म हुआ और उसके माता पिता उसे, जन्म स्थान के नाम पर ही "गोशाल" कहने लग गए। इस प्रसंग की प्रामाणिकता में संदेह किया जा सकता है और यह भी कहा जा सकता है कि "गोशाल" शब्द के आधार पर ही इसकी कल्पना कर ली गई होगी, किंतु हम इसे सोलहों आने असत्य भी नहीं कह सकते। "बाइबिल" वाले सेंट ल्यूक-रचित वृतान्त से भी जान पड़ता है कि ईशु ख्रीस्ट का जन्म लगभग ऐसी ही स्थिति में हुआ था। डा० बशम ने तो उक्त सर वण ग्राम के नाम पर भी विचार किया है और उनका कहना है कि यह शब्द "शरवन" का रूपांतर मात्र है जिसका अर्थ "सर वा सरपत वा सरकंडा नाम की घास की झाड़ी" किया जा सकता है। अतएव, उनका यह अनुमान है कि वस्तुतः "सरवण" नाम का कोई ग्राम न होगा और मक्खलि के "सरवण" या "शरवन" में उत्पन्न होने की कथा आजीवकों ने, पीछे, स्वामी कार्तिकेय की जन्म कथा के आधार पर, गढ़ ली होगी क्यों कि सर वा सरपत की घास में उत्पन्न होने के कारण उस वीर देव सेनानी को भी कभी कभी "शरवनभव" वा "शर वनोद्भव" कहा जाता है।[१] तथ्य जो भी रहा हो, "भगवती सूत्र" से यह भी पता चलता है कि गोशाल, अपने प्रारम्भिक जीवन में, मंख की जीविका करते थे और अपने हाथ में चित्रपट लिये रहते थे। जब भगवान् महावीर "रायगिह" (राजगृह) के निकटवर्ती नालंद के किसी जोलाहे के घर (तंतुवायसाला) में कुछ दिनों के लिए ठहरे हुए थे उस समय गोशाल भी वहां पहुँच गए, ये वहीं पर ठहर भी गये और, जब, एक मास का उपवास व्रत समाप्त कर के, भगवान महावीर रायगिह (राजगृह) में भिक्षार्थ गये तो, वहां के नागरिकों ने उनका बड़ा स्वागत किया और उन पर पुष्प वर्षा भी की गई जिसे सुनकर गोशाल बहुत प्रभावित हुए और उनके लौटने पर इन्होंने उनकी प्रदक्षिणा कर के उनका शिष्य भी होना चाहा। परन्तु जब भगवान महावीर ने इनकी प्रार्थना की ओर कोई ध्यान नहीं दिया और उनकी प्रतिष्ठा भी उत्तरोत्तर बढ़ती चली गई तो ये उनकी ओर और भी अधिक आकृष्ट हुए और जब वे उस स्थान को छोड़कर अन्यत्र चले गए, और उनसे इनकी भेंट न हो सकी तो इन्होंने अपने सभी वस्त्र, बर्तन, जूते और चित्रपट ब्राह्मणों को दे डाला। अपने सिर एवं दाढ़ी के बाल मुड़ा लिये और वहां से चल कर, कोल्लाग स्थान के बाहर पणीय भूमि में इन्होंने उनसे भेंट की और वहां पर इन्होंने उन्हें राजी भी कर लिया। तबसे ये बराबर उन्हीं के साथ ५ वर्षों तक सर्वत्र शिष्यवत् घूमते रहे और उनके अनेक चमत्कारिक कार्यों द्वारा अधिकाधिक प्रभावित होते हुए भी चले गए।

जिनदास नाम के किसी जैन लेखक ने, "आवश्यक सूत्र" की चूर्णी के अंतर्गत, गोशाल एवं महावीर की भ्रमण-यात्राओं के विषय में कुछ विस्तार के साथ वर्णन किया है। उन्होंने वहाँ पर बतलाया है कि किस प्रकार भगवान् महावीर के, इनसे किये गये, बहुत से कथन भविष्य में ठीक सिद्ध होते चले गए जिस पर इन्हें अत्यन्त आश्चर्य हुआ। इसके साथ ही मक्खली को बराबर इस बात का भी अनुभव होता चला गया कि जहां भगवान

---

१. "हिस्ट्री आफ़ दि आजीवकाज", पृ० ३७।

महावीर की अलौकिक शक्तियों का परिचय मिलता जा रहा है तथा जहां उनका स्वागत सत्कार भी एक महान् पुरुष एवं धर्म प्रचारक के रूप में हो रहा है वहाँ स्वयं इन्हें लोग न केवल साधारण कोटि का समझते हैं, प्रत्युत अपमानित भी कर देते हैं जिन दास ने अनेक ऐसे प्रसंगों की भी चर्चा की है जिनमें लोगों ने मक्खलि को न केवल तिरस्कार की दृष्टि से देखा, अपितु इन्हें कभी-कभी मार-पीट भी दिया। इसी सम्बन्ध में कहा गया है कि एक बार जब ये दोनों 'वैशाली' की ओर जा रहे थे तो मक्खलि ने भगवान महावीर से बिगड़ कर कहा कि जब मेरे ऊपर कभी दुष्ट लोग आक्रमण कर देते हैं तो तुम क्यों नहीं मेरी सहायता किया करते ? और जब उन्होंने कोई सन्तोष जनक उत्तर नहीं दिया तो इन्होंने उनका साथ भी छोड़ दिया। परन्तु जब अकेले घूमते समय इन्हें ५०० डाकुओं ने घेरा और इन्हें उन्होंने तंग भी किया तो इन्होंने फिर लौटकर भगवान महावीर की शरण ली। फिर भी लोगों द्वारा किया जाने वाला इनके प्रति दुर्व्यवहार कभी कम नहीं हुआ और ये बराबर कष्ट ही झेलते रहे। एक बार जब ये दोनों "पुरिमताल" में थे तो इन्होंने, उधर से जाती हुई बारात के दूल्हे और दुलहिन को देखकर, उनकी कुरूपता का उपहास किया जिससे चिढ़कर बरातियों ने इन्हें बहुत पीटा और फिर दूसरी बार, किसी गोभूमि नामक स्थान पर जब इन्होंने वहां के ग्वालों को "म्लेच्छ" कह दिया तो उन्होंने भी इनकी खूब मरम्मत की। "भगवती सूत्र" में कहा गया है कि स्वयं भगवान महावीर ने ही अपने शिष्य इन्दभूई को यह बतलाया कि मक्खलि और उनसे, किस कारण पार्थक्य हुआ था। उन्होंने कहा कि जब ये दोनों बिहार को छोड़ कर कुम्मार गाम की ओर जा रहे थे तो मार्ग में इन्हें कोई तिल की हरी भरी झाड़ी मिली जिसे देखकर मक्खलि ने भगवान महावीर से पूछा "इस तिल की झाड़ी के इन सातों फूलों का क्या होगा, कोई फल भी लगेगा या नहीं ?" और, इस प्रकार, इन्होंने उनकी भविष्य वाणी की परीक्षा करनी चाही और जब भगवान महावीर ने बतलाया कि "अभी यह झाड़ी और भी बढ़ेगी और सातों फूलों के एक ही गुच्छे में सात ढेढियाँ भी तैयार हो जायेंगी।" और मक्खलि के उसे तोड़ ताड़ देने पर भी उसमें फिर नये पौधे निकल आए तथा जैसा कहा गया था, वैसा ही दृश्य देखने को मिला तो ये आश्चर्य-चकित हो गए और पुनर्जन्म वा जन्मान्तर की धारणा हो जाने पर उनका संग छोड़ देना चाहा। कहते हैं कि एक दूसरे से पृथक् होकर फिर ये दोनों सोलह वर्षों तक प्रचार करते फिरे, मक्खलि की प्रतिष्ठा बढ़ चली और इन्होंने श्रावस्ती में अपने अनेक अनुयाई भी बना लिए।

(३)

मक्खिल गोशाल के व्यक्तिगत जीवन की प्रामाणिक बातें चाहें न भी मिल सकें और हमें उनके विषय में, केवल बौद्धों, जैनियों अथवा अन्य विपक्षी दलों के ग्रन्थों में उपलब्ध निरी काल्पनिक एवं अपमानजनक बातों पर ही, संतोष क्यों न करना पड़े, इसमें संदेह नहीं कि आजीवक संप्रदाय के वे कदाचित्, सर्व श्रेष्ठ प्रचारक थे। कहते हैं कि उन्होंने स्वयं भी अपने को प्रचलित "अवसर्पिणी" काल का चौबीसवां तीर्थंकर कहा था जिससे अनुमान होता है कि उस संप्रदाय के कुछ और भी नेता रह चुके होंगे "अंगुत्तर-

निकाय" के अनुसार पूरण कस्सप ने मनुष्यों के छह वर्ग माने थे[१] जिनमें से सर्वप्रथम को "परमसुक्क" वा सबसे अधिक उज्जवल कहा था और ऐसे लोगों में भी उन्होंने केवल तीन के ही नाम लिये थे जो नंदवच्छ, किस संकिच्च एवं मक्खलि गोशाल कहलाकर प्रसिद्ध हैं। परन्तु नंदवच्छ एवं किस संकिच्च के विषय में कुछ पता नहीं चलता। "सरभंग जातक" से विदित होता है कि बोधि सत्व ने एक बार सरभंग के रूप में भी जन्म लिया था। वे गोदावरी के तीर पर कुटी बनाकर रहते थे और उनका एक शिष्य किस वच्छ था।[२] यहां पर सरभंग के विषय में कुछ भी निश्चित ऐतिहासिक संकेत नहीं है और "किसवच्छ" शब्द भी "नंदवच्छ" एवं "किस संकिच्च" के दो अंशों से बना हो सकता है। "थेरगाथा" के अंतर्गत किसी तपस्वी सरभंग की चर्चा अवश्य मिलती है जो सरकंडों की कुटी बनाकर रहा करते थे।[३] उपर्युक्त "सरवण" ग्राम तथा इस "सरकंडों" की कुटी का कोई बादरायण-संबंध भले ही जुट जाय, किन्तु यहां किसी किसवच्छ का भी पता नहीं चलता। एक "संकिच्च" नामक अन्य जातक से यह सूचित होता है कि उस नाम का भी कोई तपस्वी था जिसने, काशी नरेश के प्रश्न करने पर, उससे नरक की यातनाओं के दृश्यों का वर्णन किया और इसी प्रसंग में उसने यह भी बतलाया कि दण्डकी नाम का कोई राजा, निर्दोष "वच्छ किस" की अवमानना करने के कारण, समूल नष्ट हुआ था।[४] इसी प्रकार "थेरगाथा" के अंतर्गत भी किसी "संकिच्च" परिव्राजक की कथा की ओर संकेत किया गया मिलता है जिसे जंगलों में रहना बहुत पसंद था।[५] किन्तु इससे भी कोई सहायता नहीं मिलती। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उक्त प्रकार के नाम निरे नये नहीं हैं और न आजीवकों ने इन्हें गढ़ लिया होगा। हो सकता है कि इस नाम के धर्म प्रचारक रहे भी हों। यह असंभव नहीं कि ऐसे अनेक परिव्राजकों से मक्खलि गोशाल को पूरी प्रेरणा मिली होगी तथा उनमें से कोई न कोई इनके पथ-प्रदर्शक भी रह चुके होंगे। मक्खलि गोशाल ने अपने जीवन के चौबीस वर्ष परिव्राजक रूप में व्यतीत किये जिनमें छह वर्षों तक वे भगवान महावीर के साथ रह और सोलह वर्षों तक श्रावस्ती की

---

१. वास्तव में, आजीवकों, तापसों एवं परिव्राजकों की, अंतिम निष्ठा वा अभीष्ट आदर्शानुसार, ६ कोटियां मानी जाती थीं जिसके नाम, ६ वर्षों वा रंगों के आधार पर, निश्चित किये गए थे और जिन्हें "कण्ह" (कृष्ण), नील, लोहित (रक्त वर्ण), हलिद्द (हरिद्रावर्ण), सुक्क (शुक्ल) एवं परमसुक्क (परमशुक्ल) कहते थे तथा जिन्हें हम, क्रमशः आतुर, कुटीचक, वहूदक, हंस, परमहंस, एवं तुरीयातीत परमहंस भी कह सकते हैं—जो कोटियाँ उपनिषदों के आधार पर मानी जाती हैं (दे० B. C. law: India as described in Early Texts of Buddhism and Jainism pp 230-1)

२. "सरभंग जातक" (५२२) हिंदी साहित्य सम्मेलन (भा० ५), पृ० २१५।

३. "थेरगाथा" (निपात ७ वर्ग २२)—महाबोधि सभा, सारनाथ, १९५५, पृ० १३७।

४. "संकिच्च जातक" (५३०), पृ० ३५२ (अरजं रजसा वच्छं किसं अवकिरिय दण्डकी)।

५. "थेरगाथा" (नि० ११ वर्ग २६) पृ० १६१।

किसी हालाहला नाम की कुंभारिन के घर में निवास करते तथा आजीवक संप्रदाय के सिद्धान्तों की व्याख्या करते एवं प्रचार करते रहे। कुंभारों के प्रति उनके हृदय में पूरा स्नेह भाव रहा करता था। अपना प्रचार कार्य करते समय वे प्रायः लोक-कथाओं की सहायता लिया करते थे और उनकी कल्पना-शैली भगवान बुद्ध की उपदेश-शैली से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी।

कहा जा चुका है कि पीछे भगवान महावीर तथा मक्खलि गोशाल में बहुत अनबन हो गई थी और मक्खलि गोशाल उन पर बहुत रुष्ट थे। अतएव, एक बार ये उनके यहां कोट्ठग चैत्य में, अपने बहुत से अनुयायियों के साथ गये और उनसे बिगड़ कर बोले कि मैं वह मक्खलि नहीं हूं जो कभी तुम्हारे साथ रहा, मैं उदाइ कुंडियायनी हूं और उनसे, "नियति के नियमानुसार मेरा जन्मांतर हो गया है।" यह बात पूरी व्याख्या और प्रमाणों के साथ कहने लग गए तथा भगवान महावीर को इन्होंने शाप तक दे दिया। वहाँ से लौटने के अनंतर ये फिर हालाहला के घर में रहते रहे, किन्तु, अन्त में, इन्हें जैसे कोई सन्निपात का रोग हो गया। ये कभी-कभी कोई आम की गुठली अपने हाथ में लेकर उसे मूट्ठी में दबाते थे, नशीली चीजें पीने लगते थे, लगातार गाते थे, नाचते थे और हालाहला के सामने शिर झुका उसके अंगों पर कुंभारों की मिट्टी वाला पानी छिड़कने लगते थे, मरने के पहले इन्होंने अपने अनुयायियों से कहा था कि मेरे शव को सुगंधित पानी से नहलाकर उस पर चंदन लगाना, उसे अच्छे कपड़े पहनाना और जितने भी आभूषण हों, उनसे भूषित कर देना। फिर अरथी पर उसे लेकर, एक सहस्र आदमियों के साथ, श्रावस्ती की गलियों में उसका जुलूस निकालना और घोषित करना कि अवसर्पिणी के चौबीसवें अथवा अंतिम तीर्थंकर "जिन" गोशाल मंखलि पुत्र का देहान्त हो गया। यह कथन "भगवती सूत्र" में दिया गया है जिसके आगे यह भी लिखा है कि विक्षिप्त होने की सातवीं रात जब समाप्त हो रही थी और इन्हें संज्ञा हो गई तो इन्होंने इस प्रकार आदेश दिया—"मेरे बायें पैर को तुम लोग किसी रस्सी से बांध देना, मेरे चेहरे पर तीन बार थूकना और मेरे शव को श्रावस्ती की गलियों में घसीट कर ले जाते समय घोषित करना कि मंखलि "जिन" न होकर एक महा धूर्त रहा और केवल भगवान महावीर ही सच्चे "जिन" हैं।[1] स्पष्ट है कि उक्त सभी बातें बनावटी होंगी। तथ्य केवल इतना हो सकता है कि मक्खलि अपने जीवन का अंत होने के पहले कुछ न कुछ विक्षिप्त हो गये थे। इनकी मृत्यु का सन् ४८४ ई० पू० में होना अनुमान किया गया है।[2]

मक्खलि गोशाल के अनंतर उनके किसी प्रमुख शिष्य वा अनुयायी का नाम नहीं लिया जाता। परन्तु आजीवक संप्रदाय के प्रचारकों में ही पूरण कस्सप भी गिने जाते हैं। बौद्ध ग्रंथ "संयुत्त निकाय" में पूरण कस्सप का नाम मक्खलि गोशाल के साथ "मक्खलि पूरणासे" करके ठीक उसके अनंतर ही आता है और "पकुध कौ कातियानो" तथा "निगंठो" के रूपों में दो अन्य धर्म विरोधियों के नाम पृथक्-पृथक् आते हैं जिससे अनुमान किया जा सकता है कि पूरण कस्सप, संभवतः मक्खलि के अनंतर तथा उन्हीं की परम्परा

१. "भगवती सूत्र" (१५-५५४ और १५-५५५।
२. "हिस्ट्री आफ दि आजीवकाज", पृ० ७४।

में भी हुए होंगे। इसके सिवाय जैनों के तमिल ग्रंथ "नीलकेशी" से प्रकट है कि नीलकेशी जैन धर्म में धर्मांतरित हो गई थी और वह, रहस्यपूर्ण प्रश्नों का समाधान कराने के उद्देश्य से, एक शिक्षक से दूसरे के यहां भ्रमण करती थी। इस सम्बन्ध में वह स्वयं भगवान् बुद्ध के यहां गई थी और मौद्गल्यायन के यहाँ गई थी जो दोनों बौद्ध धर्म के प्रचारक थे और, इसी प्रकार, वह सांख्य दर्शन के विद्वान् पराशर तथा आजीवक संप्रदाय के आचार्य पूरण के भी यहां गई थी और उनसे पृथक्-पृथक् विचार विमर्श किया था। पूरण कस्सप को उसने आजीवकों के कुक्कुट नगर वाले मठ का स्वामी कहा है और यह भी बतलाया है कि "भगवान् पूरण अपनी प्रतिभा में अतुलनीय थे।" नीलकेशी का उन्होंने स्वागत किया और कहा कि मड्कलि आजीवकों का भगवान है। इस प्रकार, यदि मड़कलि, वास्तव में, मक्खलि गोशाल को ही कहा गया है तो, वे निःसंदेह उस संप्रदाय के सर्वोत्कृष्ट महापुरुष थे और पूरण भी उनके अनंतर आ सकते थे। एक अन्य संस्कृत ग्रंथ "तर्क रहस्य दीपिका" से (जो हरिभद्र के "षड्दर्शन समुच्चय" पर भाष्य के रूप में लिखी गई पुस्तक है) पता चलता है कि बौद्ध मतवाले जहां जगत् को "विज्ञप्ति मात्रम्" अर्थात् केवल विशुद्ध भावना मात्र समझते हैं वहां पूरण ने उसे "नियति जनितम्" अर्थात् नियति से उत्पन्न ठहराया है। परन्तु बुद्धघोष ने पूरण के भी विषय में लिखते समय कहा है कि वह दास था और, अपने स्वामी के घर में सौवां होने के कारण, उसे "पूर्ण" कह कर अभिहित किया गया था। उन्होंने यह भी बतला दिया है कि एक बार वह अपने स्वामी के घर से भाग गया और चोरों ने उसके सभी कपड़े चुरा लिये जिससे वह नंगा रहने लग गया। ये बातें पूर्ण कस्सप को हेय ठहराने के लिए गढ़ी गई हो सकती हैं और इन्हें अधिक महत्त्व देने की कोई आवश्यकता नहीं है। पूरण कस्सप, कदाचित्, मक्खलि से अवस्था में कुछ बड़े थे, किन्तु इन्होंने उन्हें अपने से अधिक योग्य मान लिया था। इनका देहांत भी उनसे कुछ दिन पूर्व, संभवतः सन् ५०० अथवा सन् ४९९ ई० पू० में आत्महत्या से हुआ।[1]

पकुध कच्चायन के लिए भी कहा जाता है कि आजीवक संप्रदाय के अभी तक ज्ञात प्रचारकों में उनका भी बहुत बड़ा हाथ रहा, किन्तु, उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर, उनके व्यक्तिगत जीवन का परिचय उतना भी नहीं दिया जा सकता जितना पूरण कस्सप के लिए किया जा सकता है। बुद्ध घोष ने, अपनी "सामञ्जसुत्त" वाली टीका के अंतर्गत इनके विषय में इतना ही कहा है कि ये अपने को ठंडे पानी से बचाया करते थे और मल मूत्र विसर्जन करने पर भी, ये तब तक नियमित स्नानादि नहीं करते थे जब तक इन्हें गर्म जल व चावल का मांड़ नहीं मिल जाता था। बुद्धघोष का तो यह भी कहना है कि किसी पानी के सोते व नदी को न लांघने का इन्होंने व्रत ले रक्खा था और इसके लिये इन्होंने, प्रायश्चित्त के रूप में कोई बालू की मेंड भी बना रखी थी। यहां पर इतना अवश्य उल्लेखनीय है कि कुछ दक्षिणी आजीवकों में यह प्रथा थी कि वे मांड वा कांजी का उपयोग भोजन के समय किया करते थे और, जैसा कि "तित्तिर जातक" में आये हुए एक प्रसंग से भी सिद्ध

---

१. "हिस्ट्री आफ़ दि आजीवकाज"—पृ० ८९।

होता है,[1] वे किसी लाल चूर्ण का प्रयोग भी अपने धार्मिक कृत्यों के समय करते रहे होंगे। "तित्तिर जातक" वाली कथा में आये हुए व्याघ्र के कथन से यद्यपि यह बात स्पष्ट नहीं होती, किन्तु उसकी टीका से इसका बहुत कुछ स्पष्टीकरण हो जाता है।[2] जैसा इसके पहले भी कहा जा चुका है इनकी भी गणना उन ६ धर्माचार्यों में की गई है जो राजा अजातशत्रु के समय "गणाचरियों" (संप्रदाय व धार्मिक वर्ग का आचार्य), "तित्थकारो" (तीर्थंकर) "साधु सम्मतौ" (संतवत् प्रतिष्ठित) एवं "चिर पब्बजितो" (चिरकालीन परिव्राजक) के रूपों में श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते थे। इन्हें, संस्कृत में रचित कतिपय बौद्ध ग्रंथों में, "ककुध" भी कहा गया है जिस कारण डा० बरुआ का अनुमान है कि ये, संभवतः उन छह ऋषियों में है जिन्होंने पिप्लाद ऋषियों से प्रश्न किये थे।[3] "प्रश्नोपनिषद्" में कथा आती है कि भरद्वाज पुत्र सुकेशा, शिवपुत्र सत्यकाम, गर्ग गोत्रीय सौर्यायणी, कोसलदेशीय आश्वलायन, विदर्भनिवासी भार्गव तथा कत्य ऋषि के प्रपौत्र कबन्धी—ये छहों ब्रह्म ऋषि एक बार पिप्पलाद ऋषि के यहां पहुँचे और उन्होंने इनसे कई महत्वपूर्ण प्रश्न किये। डा० बरुआ ने उनमें से कबन्धी कात्यायन को ही ककुध कात्यायन मान लिया है क्योंकि इन दोनों शब्दों—"कबन्धी" एवं "ककुध" का अर्थ कुबड़ा भी होता है। परन्तु यह स्वीकार कर लेने पर एक प्रश्न यह भी उठ सकता है कि क्या ये ककुध इतने प्राचीन रहे होंगे कि इनकी ऐसी चर्चा, "प्रश्नोपनिषद्" जैसी प्राचीन रचना में भी की गई होगी ? इसके सिवाय ककुध कच्चायन के लिए यह प्रसिद्ध है कि ये परमाणुवादी आजीवक थे और दक्षिणी आजीवकों में, इसीलिए इनका एक उपसंप्रदाय भी रहा है। ऐसी दशा में इनका पिप्पलाद ऋषि से यह प्रश्न करना कि "भगवन्" जिससे ये सम्पूर्ण चराचर जीव नाना रूपों में उत्पन्न होते हैं, जो इनका सुनिश्चित परम कारण है, वह कौन है ?" और इसका उत्तर पा लेने पर कि प्रजापति ही सभी कुछ है तथा, अपने अन्य साथियों के भी ऐसे ही प्रश्नों के उत्तरों से सन्तुष्ट हो जाने पर, उन सभी के साथ इनका पिप्पलाद ऋषि को पिता कह कर उन्हें बारबार नमस्कार करना[5] उक्त मत के विषय में कुछ संदेह उत्पन्न कर देता है। इसके विपरीत "मज्झिमनिकाय" में इन्हें मक्खलि गोशाल के साथ नियतिवादी होना कहा गया है और इसका समर्थन "सामञ्ज सुत्त" के एक चीनी संस्करण से भी हो जाता है।[6] डा० उई का तो यह भी कहना है कि भारतीय परमाणुवाद के ये कदाचित् अति प्राचीन वा सबसे प्राचीन आचार्य भी कहे जाने योग्य हैं।[7]

---

१. "तित्तिर जातक" (४३८) पृ० २०१।
२. "हिस्ट्री आफ दि आजीवकाज" पृ० ११२–३।
३. डा० बरुआ "प्रो० बुद्धिष्ट इंडियन फिलासफी", पृ० २८१।
४. "प्रश्नोपनिषद" (१, १)
५. वही (४–१६)।
६. "हिस्ट्री आफ दि आजीवकाज", पृ० ९१।
७. उई: "वैशेशिक फिलासफी", पृ० २५।

(४)

आजीवक संप्रदाय का सर्व प्रमुख वाद "नियतिवाद" है जिसके प्रवर्तक मक्खलि गोशाल समझे जाते हैं। परन्तु इसके प्रतिपादन में किसी ग्रन्थ विशेष की गई नहीं जान-पड़ती और न कोई ऐसी सुव्यवस्थित अन्य सामग्री ही उपलब्ध है जिसके आधार पर उसकी समुचित व्याख्या की जा सके। जैन ग्रंथों से पता चलता है कि आजीवकों के प्रामाणिक धर्म ग्रन्थ भी थे जिनमें से कुछ की सूचियाँ भी उनमें दी गई मिलती हैं। इनके अनुसार उनके आठ "महाणिमित्त" थे जिनके नामों से प्रकट होता है कि उनमें कई गूढ़ विषयों के प्रतिपादन रहे होंगे और दो "मग्ग" भी थे जिनका विषय क्रमशः "गीतमार्ग" तथा "नृत्यमार्ग" नामों के अनुसार गीत एवं नृत्य बतलाया गया है। इसी प्रकार दक्षिणी आजीवकों के कतिपय तमिल ग्रंथों में भी कहीं-कहीं किन्हीं ऐसे धर्म ग्रंथों की चर्चा आ गई दीख पड़ती है जो उक्त दसों ग्रन्थों से भिन्न रहे होंगे। इसके सिवाय जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों में से कई में इस प्रकार की रचनाओं के विविध उद्धरण आये हैं जो, संभवतः किन्हीं आजीवक ग्रन्थों से ही लिए गए होंगे। ये उद्धरण या तो पालि वा प्राकृत में हैं अथवा संस्कृत में भी हैं जिनसे कभी-कभी आजीवकों के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है। एक ऐसा सबसे प्रसिद्ध श्लोक जिसे शीलांक ज्ञान विमल एवं अभयदेव ने एक ही ढंग से उद्धृत किया है और जिससे नियतिवाद के रहस्य की एक झांकी मिल जाती है इस प्रकार है :—

प्राप्तव्यो नियति बलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभोवा।
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्तिनाशः ॥

(शीलांक—"सूत्र कृतांग" १-२-२ एवं १-२६, ज्ञान विमल—"प्रश्नव्याकरण ७ और अभयदेव"—"उवासग दसाओ" ६-१६५)

अर्थात मनुष्य के लिये जो कुछ भी शुभ वा अशुभ, नियति के बल पर होने वाला है वह होकर ही रहेगा, प्राणी चाहे कितना भी बड़ा प्रयत्न करले जो कुछ नहीं होने वाला होगा, नहीं होगा और, इसी प्रकार, जो होने वाला होगा उसका नाश भी नहीं हो सकेगा। और अभयदेव ने अपनी "उवासगदसाओं" की टीका में एक यह श्लोक भी दिया है :—

नहि भवति यन्न भाव्यं, भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन।
करतल गतमपि नश्यति, यस्यतु भवितव्यतानास्ति ॥[१]

("उवासग दसाओ" ६-१६५)

अर्थात जो कुछ न होने वाला होगा नहीं होगा और जो होने वाला होगा वह बिना किसी प्रयत्न के भी होगा किन्तु जिस व्यक्ति के लिए उसकी भवितव्यता नहीं, उसकी हथेली में आकर भी वह नष्ट हो जायगा।

यह तो स्वयं आजीवकों की ही रचनाओं के, दूसरों द्वारा, उद्धरण देने की बात

---

१. तुलनीय—अरक्षितं तिष्ठति दैव रक्षितं सुरक्षितं दैव हतं विनश्यति।
जीवत्यन्तथोऽपिवने विसर्जितः, कृत प्रयत्नेऽपिगृहे विनश्यति ॥

—सुभाषित

रही, इन्हें देकर उन लोगों ने इन पर विविध प्रकार की टिप्पणियाँ भी की हैं। उन टिप्पणियों द्वारा नियतिवाद की निःसारता प्रदर्शित की गई है तथा, उसकी समीचीनता में स्पष्ट संदेह प्रकट करते हुए, उसका बलपूर्वक विरोध भी किया गया है। फिर भी ऐसे उद्धरण कर्त्ताओं का कार्य उतना बुरा नहीं लगता जितना उन लेखकों का जिन्होंने आजीवकों के सिद्धांतों का संक्षिप्त विवरण देते समय, उन्हें, अपनी-अपनी आवश्यकताओं के अनुसार, मनमाने रूप भी दे डाले हैं तथा, उसी के आधार पर, उनकी हंसी भी उड़ाई है। उदाहरण के लिए बौद्धों के "सामञ्ज सुत" में जो मक्खलि गोशाल के नियतिवाद का परिचय दिया गया है, उसमें किसी प्रकार के सैद्धांतिक विवेचन की कोई चेष्टा नहीं की गई है और न कदाचित उसमें गोशाल के मूल सिद्धांतों का भरसक उन्हीं के शब्दों में दिया गया कोई पर्याप्त उल्लेख व संकेत तक दीख पड़ता है। उस ग्रन्थ के प्रसंगों तथा उस पर की गई बुद्ध घोष की "सुमंगला विलासिनी" नामक टीका से भी यह बात स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि गोशाल के सिद्धांतों को यदि कहा भी गया है तो वह कम-से-कम अपने शब्दों एवं शैली में ही बतलाया गया है। इसके सिवाय उस वर्णन में किसी प्रकार की दार्शनिक प्रणाली का प्रयोग भी लक्षित नहीं होता, प्रत्युत व सरासर व्यावहारिक रूप की ही अभिव्यक्ति जंचती है। जैसे: "जीवों के पाप कर्मों का कोई कारण नहीं और न उनका कोई आधार ही हो सकता है और न, इसी प्रकार किसी जीव के पुण्यों का ही कोई कारण अथवा उनका आधार हो सकता है। कोई भी अपने से वा दूसरों द्वारा किया गया ऐसा कार्य नहीं जिसका प्रभाव उसके भावी जीवन पर पड़ सकता है, कोई मानवीय कार्य, शक्ति, साहस, सहनशीलता वा मानवीय बल नहीं जो उसके इस जीवन की नियति को प्रभावित कर सके। सभी प्राणी, सभी जीवधारी, सभी जन्म लेने वाले, सभी श्वास प्रश्वास वाले बिना किसी शक्ति के हैं; उनमें बल नहीं और न कोई गुण ही रहा करता है और उनका विकास केवल नियति, संयोग और स्वभाव द्वारा परिचालित होता है और वे तदनुसार छः प्रकार के वर्गों में रह कर सुख व दुख अनुभव किया करते हैं।" यहाँ पर, स्पष्ट है कि, न तो नियति की कोई परिभाषा दी गई है और न उसके स्वरूप का ही कोई परिचय दिया गया है, प्रत्युत केवल उसके द्वारा होने वाले कतिपय परिणामों की ही ओर इंगित करके उससे अपना काम निकाल लिया गया है। संभव है कि ऐसा, केवल पर्याप्त सामग्री के अभाव से ही, किया गया हो, किन्तु जो कुछ इस समय ऐसा आधार उपलब्ध है उसके अनुसार भी, हम नियतिवाद को उतनी सरलता के साथ नहीं उड़ा सकते।

छिट-पुट अवतरणों के सहारे भी यह अनुमान करते अधिक विलंब नहीं लगता कि मक्खलि गोशाल के उक्त नियतिवाद में सारतत्व की कमी नहीं है। उनकी मान्यता की आधार शिला यह प्रतीत होती है कि "नियति" किसी सुव्यवस्था के सिद्धांत का एक व्यापक एवं सर्वग्राही नियम है जो प्रत्येक कार्य एवं प्रत्येक दृश्य को मूलतः शासित किया करता है जिस कारण मनुष्य के कर्मस्वातंत्र्य को कोई स्थान नहीं और न उसकी क्रिया शक्ति का ही कोई परिणाम संभव है। वास्तव में यह नियति एक प्रकार के किसी प्राकृतिक व विश्वात्मक नियम की प्रतीक है जिसके किसी न किसी रूप को स्वयं भगवान बुद्ध एवं महावीर ने भी स्वीकार किया है। उनके द्वारा उपदिष्ट कर्मवाद में भी एक

सर्व व्यापक नियम दृष्टिगोचर होता है जो सारे विश्व को नियंत्रित एवं शासित करता है, अन्तर केवल यही हो सकता है कि वहाँ पर अपवाद की भी संभावना है इसी प्रकार सांख्य दर्शन के परिणामवाद में भी हमें नियतिवाद के तत्व दीख पड़ते हैं, किन्तु वहाँ पर भी आजीवकों की जैसी कठोरता का पता नहीं चलता। नियति की चर्चा करते समय मक्खलि गोशाल का कथन कुछ इस प्रकार का था कि "जिस प्रकार कोई सूत से भरी रील फेंकने पर बराबर उभरती चली जाती है और वह उसकी पूरी लम्बाई तक एक ही प्रकार बढ़ती जाती है, उसी प्रकार चाहे मूर्ख हो चाहे कोई पंडित ही क्यों न हो, सभी को ठीक एक ही नियम का अनुसरण कर अपने दुख का अन्त करना है।" मक्खलि गोशाल के इस नियतिवाद की धारणा को उनके दक्षिणी अनुयायियों ने कुछ और भी विकसित किया। उन्होंने, कदाचित, पकुध कच्चायन की मान्यता के अनुसार, नियति को "अविचलित नित्यत्वम्" जैसा विशेषण अथवा नाम दिया जिसका भाव यह था कि वह सभी प्रकार से अपरिवर्तनशील है। इस प्रकार नियति का रूप गतिशील न होकर सर्वथा "नित्य स्थायी" (Static) सा बन जाता है जिसमें किसी प्रकार के काल (Time) की भी गुंजायश नहीं रहती। किसी भी प्रगति का प्रत्येक अंश उसमें बराबर विद्यमान रहा करता है; जिस प्रकार सूर्य के उदित हो जाने पर भी, तारे बराबर बने रहते हैं, उसी प्रकार मनुष्य का मोक्ष हो जाने पर भी, उसके सांसारिक जन्मादि पूर्ववत् कायम रहते हैं, कोई वस्तु न तो उत्पन्न होती है और न वह नितांत नष्ट ही हो पाती है और कालतत्व भी केवल भ्रामक मात्र है। एक तमिल ग्रन्थ के अनुसार धन एवं निर्धनता, पीड़ा और आनन्द, किसी एक देश का निवास और अन्य देशों में भ्रमण—ये सभी पहले से ही गर्भ के भीतर निश्चित कर दिये गये रहते हैं और यह सारा जगत किसी कठोर नियति द्वारा शासित और परिचालित है। जिस कथन पर, संभवतः कर्मवाद एवं जन्मांतर वाद का भी प्रभाव स्पष्ट है। उक्त तमिल ग्रन्थ पीछे रचा गया है जब मक्खलि गोशाल एवं पकुध कच्चायण के नियतिवाद पर इधर के अनेक प्रभाव पड़ चुक रहे होंगे।

स्वयं मक्खलि गोशाल का नियतिवाद भी कोई अभूतपूर्व घटना के रूप में नहीं प्रकट हुआ होगा। प्राचीन देशों की विविध जातियों का इतिहास पढ़ने से जान पड़ता है कि नियति का एक न एक रूप उनके यहां भी सदा वर्तमान रहा। वैदिक साहित्य में इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। किन्तु "महाभारत" के समय में हमें बड़े से बड़े वीर तक नियति द्वारा प्रभावित प्रतीत होते हैं। कर्ण ऐसे वीर का यह कहकर ही युद्धोद्यत होना कि मरना तो निश्चित है ही तथा भगवान् श्री कृष्ण का "गीता" में यह उपदेश देना कि शरीरधारी सदा अपने शरीर को पुराने वस्त्र सा बदलता रहा करता है इसी ओर संकेत करते हैं। यहाँ के बौद्ध, जैन एवं सांख्य दर्शनों की मान्यताओं की ओर इसके पहले कहा जा चुका है। चीन के प्रमुख धर्म के अंतर्गत भी नियति को विश्वव्यापी नियम के रूप में तथा निर्वैयक्तिक भी स्वीकार किया गया है और इस दृष्टि से वहां पर भी मनुष्य उस की क्रीड़ा वा लीला का एक साधन मात्र ही रहता है। परन्तु वहां पर नियति वस्तुतः किसी अन्य अलौकिक शक्ति से उत्पन्न मानी जाती है जो इस नियतिवाद की नियति के लिए संभव नहीं है। ईसाई धर्म में भी नियति को बहुत महत्व देकर फिर उसे ईश्वरेच्छा

के आधीन कर दिया गया है और इस प्रकार ईश्वरीय शक्ति उससे बड़ी हो जाती है। ईसाइयों में कदाचित् सबसे पहले सेंट आगस्टाइन ने दिष्ट या (Predestination) का प्रचार किया था और वह जीव को "भवितव्यता का दास" भी बतलाया करते थे। उनके अनुसार नियति के नियमों में कहीं थोड़ी सी भी गुंजायश नहीं जिस बात को पीछे, किसी रूप में, ईसाई प्रचारक कैलविन (Calvin) ने भी स्वीकार कर लिया था। ग्रीक लोग ऐसी दैवी शक्ति से अत्यंत भयभीत रहा करते थे और वहां के नाटकों में तो नियति-जन्य प्रभाव के अनेक उदाहरण मिलते हैं। कर्ण के ही समान यहां पर भी "ईलियड" के हेक्टर एवं एचिलीज़ नामक वीरों को हम भाग्य और देव की बातें कहते देखते हैं और यहां कभी-कभी देवता भी सहायक होते हैं। यहूदी एवं फैरीसी जाति के लोगों के लिए भी यह कहा जाता है कि वे लोग मनुष्य की कार्य-संबंधी स्वाधीनता को स्वीकार नहीं करते थे और भूत, भविष्य एवं वर्तमान तीनों के ही कर्मों तथा घटनाओं तक को पूर्व निर्दिष्ट मानकर चला करते थे। किन्तु यहूदी भी फिर परमेश्वर की सर्व-शक्तिमत्ता को ही बढ़ावा देने लग गए। यही बात मुसलमानों में भी पाई जाती है जहां किसमत, तकदीर, नसीब एवं वख्त जैसे शब्दों के प्रयोग किये जाते हैं, किन्तु फिर भी वे खुदा को नियंता मान लेते हैं। मक्खलि गोशाल की विशेषता है कि उन्होंने, नियति को एक अत्यंत व्यापक एवं कठोर-कर्म स्वरूप प्रदान कर, उसके अनुसार, स्वभावतः, अन्य अनेक बातें भी घटा दीं फिर उसके अनुयायियों में से कुछ लोगों ने नियतिवाद के अंतिम छोर तक पहुंचने की चेष्टा की और, इस प्रकार, उनके संप्रदाय के ही रूप में सुधार हो गया। बहुत से आजीवकों ने पीछे वैष्णव धर्म से प्रभावित होकर एक प्रकार की भक्ति साधना तक स्वीकार कर ली।

(५)

मक्खलि गोशाल एवं अन्य आजीवकों द्वारा प्रचारित नियतिवाद के साथ ही विभिन्न देशों में भी प्रचलित नियति-संबंधी धारणाओं पर एक बार, इस प्रकार, सिंहाव-लोकन कर लेने पर हमें इस प्रश्न के महत्वपूर्ण होने में कोई संदेह नहीं रह जाता और स्वभावतः इसका कारण जानने की हमारी प्रवृत्ति भी हो पड़ती है। परन्तु, "यह किस प्रकार संभव है ?" ऐसा एक प्रश्न स्वतंत्र रूप से भी उठ सकता है जिसका कुछ समाधान, कदाचित् इस संबंध में प्रयुक्त कतिपय शब्दों के आधार पर भी, किया जा सके, उदाहरण के लिए, यदि केवल हिन्दू-समाज में अधिकतर प्रचलित शब्दों पर भी एक साधारण दृष्टि डाली जाय तो, इस पर कुछ न कुछ प्रकाश पड़ने की गुंजायश हो सकती है। ऐसा करने के पूर्व यदि हम उनकी एक संक्षिप्त सूची तैयार कर लें तो पता चलेगा कि यहां, इस संबंध में, बहुधा, भाग्य, दिष्ट, अदृष्ट, काल, नियति, भावी, भवितव्यता, कर्म, विधि, विधाता, भागधेय, प्रारब्ध, दैव, अंक, होनी, होनहार, हठ एवं संयोग जैसे अनेक शब्दों के प्रयोग हुआ करते हैं जिनका एक साथ अध्ययन आवश्यक है। इन शब्दों के अतिरिक्त कभी-कभी क़िसमत, तक़दीर, नसीब, मुक़द्दर, वख्त, सितारा तथा Fate, Lot, Destiny, Fortune, Luck, Chance जैसे अन्य अनेक शब्द भी प्रायः व्यवहृत होते रहते हैं, किन्तु ये अधिकतर उनके पर्याय रूपों में ही आया करते हैं और इनके कारण, मूल

धारणा में भी कोई परिवर्त्तन अनिवार्य न होगा। अब, यदि, उपर्युक्त शब्दों पर कुछ विशेष ध्यान देकर, उनका वर्गीकरण भी कर लिया जाय तो, जान पड़ेगा कि उनमें से कुछ अर्थात् भाग्य, भागधेय, प्रारब्ध, अंक, दिष्ट, भावी, भवितव्यता, विधि, होनी, होनहार, कर्म और दैव जहां कोई कार्य वा कार्यफल मात्र कहला सकते हैं वहां अदृष्ट, काल, विधाता, हठ, संयोग एवं नियति ही ऐसे शब्द हैं जिन्हें हम किसी न किसी प्रकार के कर्त्ता का बोधक भी ठहरा सकते हैं—यों तो साधारण प्रयोगों में उक्त "भाग्य" आदि शब्दों को भी प्रायः कर्त्ता जैसा मान लिया जाता है, फिर, यदि केवल प्रथम वर्ग के शब्दों का ही एक बार और भी विश्लेषण किया जाय तो, पता चलेगा कि भाग्य, भागधेय, विधि, अंक, दिष्ट, एवं दैव जहां किसी न किसी वाह्यकर्त्ता का भी अस्तित्व सूचित करते हैं वहां कर्म, प्रारब्ध, भावी, भवितव्यता, होनी एवं होनहार ऐसे हैं जिनके लिए ऐसा कोई अनुमान करना आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार, दूसरे वर्ग के शब्दों का भी विश्लेषण कर लेने पर, हमें पता चलता है कि इनमें से भी "अदृष्ट" शब्द जहां न दीख पड़ने वाले की, "काल" समय की ओर "हठ" एवं "संयोग" किसी अज्ञात कर्त्ता की ओर संकेत करते हैं वहां केवल "विधाता" एवं "नियति" ही ऐसे दो शब्द हो सकते हैं जिनसे क्रमशः किसी स्पष्ट कर्त्ता और कर्त्तव्यशक्ति मात्र का बोध हो सके और इनमें से भी केवल "विधाता" का ही प्रयोग सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा के लिए भी हुआ करता है।

इस प्रकार कह सकते हैं कि विधाता, सृष्टि का निर्माण करते समय, प्रत्येक व्यक्ति के लिए कोई न कोई "भाग्य" (उसके भाग में वा भोगने के लिए फल का) निर्णय कर दिया करता है जो उस व्यक्ति का "भागधेय" अथवा भाग्यांश बन जाता है और उसके ऐसा करने की कोई 'विधि" भी होती है जिसका विधायक भी स्वयं विधाता है। इसके सिवाय यह भी कह सकते हैं कि अपने इस कार्य को सूचित करने के लिए विधाता उस पर कोई "अंक" वा छाप भी लगा देता है जिसे "दिष्ट" (नियुक्त वा निश्चित) कह लेंगे और वही देवता विहित होने के कारण "देव" नाम से भी अभिहित किया जा सकता है। वही भागधेय उस व्यक्ति के भविष्य के लिए पीछे भावी, होनी, होनहार वा भवितव्यता भी हो जाता है जिसे भोगने के लिए उसे विवश होना पड़ता है और इस प्रकार उस विधाता के कर्त्तव्य का पूर्ण समाधान किया जा सकता है। परन्तु इस प्रकार सोचने पर फिर उस "विधाता" के भी निर्माता और निर्माता के संबंध में कुछ न कुछ उधेड़ बुन करने की आवश्यकता पड़ सकती है। इसलिए विवश होकर हमें फिर उस अन्य, कर्त्ता सी समझ पड़ने वाली, नियति पर विचार करना पड़ जाता है जो, केवल किसी निश्चित एवं सुव्यवस्थित नियम पद्धति के रूप में ही, अनुभव गम्य समझी जा सकती है, जिसे अज्ञात होने के कारण, हम "हठ" वा "संयोग" कह सकते हैं, समय के प्रवाह में कार्यशील होती जान पड़ने के कारण "काल" कह सकते हैं तथा इसी प्रकार जिसे हम कभी दीख न पड़ने वाली होने के कारण "अदृष्ट" भी ठहरा सकते हैं। परन्तु यहाँ पर केवल एक प्रश्न और भी रह जाता है जिसका कोई समाधान, इस प्रकार नियति को सर्वे सर्वा बना देने मात्र से, नहीं चलता और यह "कर्म" एवं "प्रारब्ध" शब्दों के भी प्रयोग होते रहने का है। "कर्म" शब्द निश्चित रूप से, इस प्रसंग में, केवल उन कामों की ओर ही

संकेत करना है जो उपर्युक्त व्यक्ति द्वारा किसी पूर्व जन्म में अर्जित किये जा चुके हैं, जिनका एक अंश "संचित" वा भोगने के लिए सुरक्षित कहलाता है, दूसरा "क्रियमाण" अथवा प्रस्तुत समय में भोगा जाने वाला कहा जाता है और केवल उस तीसरे को ही प्रारब्ध का नाम देते हैं जिसका भोग्य वा क्रियमाण में परिणित होने के लिए, आरंभ कर दिया जा चुका है, किन्तु जिसका कुछ अंश अभी तक, स्वभावतः, शेष भी रह गया है। "कर्म" एवं "प्रारब्ध" शब्द, इस प्रकार उस कर्मवाद की ओर भी निर्देश करते हैं जो किसी न किसी रूप में हिंदुओं, बौद्धों एवं जैनों को भी मान्य है तथा जिसके विरुद्ध कभी मक्खलि गोशाल को अपने नियतिवाद का प्रचार भी करना पड़ा था।

नियतिवाद एवं कर्मवाद के संबंध में विवाद उठाने का श्रेय केवल मक्खलि गोशाल मात्र को ही दिया भी नहीं जा सकता। यह तो प्रायः सभी के लिए एक व्यक्तिगत समस्या भी है और यह "नियति बनाम पुरुषकार" के रूप में प्रायः तभी उपस्थित होती है जब हम किसी कार्य में अपनी पूरी शक्ति लगाकर तथा सभी प्रकार के साधनों का उपयोग भी करके, हाथ पर हाथ रख बैठ जाया करते हैं तथा, अपनी असफलता को किसी प्रत्यक्ष कारण का अनुमान न कर सकने के कारण, कभी कभी संदेह करने लग जाते हैं कि इसमें किसी अन्य का हाथ होगा। फिर तो हमारे भीतर इस प्रकार के तर्क वितर्क भी होने लगते हैं कि वह शक्ति कौन तथा कैसी हो सकती है ? और उसकी क्रिया-पद्धति के नियम का निर्धारण भी हमारा एक लक्ष्य हो जाता है। इस प्रकार का प्रश्न, कहते हैं, एक बार भगवान् श्रीरामचन्द्र के भी सामने कभी आया था जिसका समाधान करने के लिए "योगवाशिष्ठ" ग्रन्थ की रचना हुई थी और उसके द्वारा महर्षि वशिष्ठ ने इस बात को बड़ी योग्यता के साथ प्रतिपादित करने के प्रयत्न किये थे कि पुरुषकार को दैव से कहीं अधिक महत्व देना चाहिए। उनका कहना था कि—

प्राक्तनं चैहिकं चैति द्विविधं विद्धि पौरुषम्।[1]

अर्थात् "पौरुष दो प्रकार का है—प्राक्तन (पुराना) और ऐहिक (प्रस्तुत काल का) अर्थात् पिछले जन्म का किया हुआ तथा इस जन्म में किया हुआ" और यह भी कि,

प्राक्तनं पौरुषं यत्तद् दैवशब्देन कथ्यते।[2]

अर्थात् पिछले जन्म के पौरुष को ही "दैव" शब्द द्वारा अभिहित किया जाता है। इस प्रकार इन युक्तियों द्वारा उन्होंने दोनों मतों के बीच एक सामंजस्य बिठा देने की भी चेष्टा की तथा एक स्थल पर उन्होंने यह भी स्पष्ट शब्दों में कह दिया—

पौरुषं सर्वकार्याणां कर्त्तृ राघव, नेतरत्।
फल भौक्तृच सर्वत्र न दैवं तत्र कारणम्॥[3]

---

१. "योगवाशिष्ठ" (मुमुक्ष प्रकरण ४—१९)।
२. वही, (६—३५)।
३. वही, (९—२)।

अर्थात् हे राम चंद्र, वस्तुतः पौरुष ही सर्वत्र कार्य का कर्त्ता और भोक्ता है, दैव को हम किसी प्रकार उसका कारण नहीं ठहरा सकते । इसी प्रकार, नियति के विषय में अन्यत्र, काश्मीर शैव मत के प्रत्यभिज्ञा दर्शन के प्रसंग में भी, कहा गया है—

नियतै शिव एवैकः स्वतंत्रः कर्त्तृतामियात् ।
कुम्भकारस्य या संवित् चक्रदण्डादि योजनै ।।[1]

अर्थात् शिव ने सारे सृष्टि-कार्य आदि को, नियति से स्वतंत्र रहकर ही, किया और वह जैसे कुभार के चक्र-दंडादि की योजना में केवल एक साधन मात्र ही, रही । तथा

नियते र्महिमा नैव फले साध्यै निवर्त्तते ।[2]

अर्थात् साध्य फल की उपलब्धि में नियति का कुछ भी महत्व नहीं है । परन्तु वहीं एक स्थल पर यह भी कहा गया है—

नियति योर्जनां धत्ते विशिष्टे कार्यमण्डले ।[3]

अर्थात् नियति विश्व के विशिष्ट कार्यकलापों की योजना संभाला करती है जिससे उसका महत्व तो सूचित होता है किन्तु वह सभी कुछ नहीं है ।

उपनिषदों के अंतर्गत किसी नियतिवाद का कोई उदाहरण नहीं पाया जाता, किन्तु मनु के समय से इसका महत्त्व कुछ न कुछ बढ़ता ही चला जाता जान पड़ता है । "महाभारत" के एक स्थल पर आता है "सारा विश्व अपने सृष्टिकर्त्ता के नियमानुसार चलता है, किन्तु यह नियति के शासन द्वारा प्रभावित रहता है । यह स्वतंत्र नहीं है ।"[4] और फिर, इसी प्रकार, यह भी उसी ग्रन्थ में दीख पड़ता है, "मनुष्य को सुख वा दुख या तो भगवान की इच्छा से या नियति के कारण अथवा अपने ही कर्मफल से हुआ करता है ।"[5] "योग वाशिष्ठ" में भी एक प्रसंग में आता है "दैव एवं पुरुषकार दोनों भेड़ों की भांति परस्पर एक दूसरे से लड़ा करते हैं, जो जिस अवसर पर बलवान पड़ता है वह दूसरे को पछाड़ देता है ।[6] ऋषि याज्ञवलक्य भी, इसी प्रकार कहते हैं, "जैसे किसी एक ही पहिये से रथ नहीं चलता, उसी प्रकार बिना पुरुषकार के दैव की सिद्धि नहीं होती ।"[7] "रामायण" में भी एक स्थल पर आता है "किसी भी व्यक्ति का कार्य अंशतः दैव द्वारा, अंशतः "हठ" द्वारा तथा अंशतः उसके कर्म द्वारा शासित और परिचालित हुआ करता है ।"[8] उपनिषदों में से भी कम से कम "श्वेताश्वतरोपनिषद्" के अंतर्गत कहा गया है "कहीं काल को,

---

१. "तन्त्रालोक" की टीका में उद्धृत ।
२. "तन्त्रालोक" (आह्निक १३, श्लोक १४८) ।
३. वही, भा० ६ पृ० १६० ।
४. "महाभारत" (२–५७–४) ।
५. वही, (३–१८३–८६) ।
६. "योग वाशिष्ठ" (मुमुक्ष, प्रकरण, ६–१०) ।
७. याज्ञवलक्य स्मृति (आचाराध्याय ३४९) ।
८. "रामायण" (३, ३२, १२–२१ एवं १८३–८६) ।

कहीं स्वभाव को, कहीं नियति को, कहीं यदृच्छा को, कहीं भूतों को, कहीं जीवात्मा को और कहीं सभी के संयोग को कारण ठहराया गया है, किन्तु इनमें से कोई भी ऐसा सिद्ध नहीं होता।"[1] जिससे "नियति" शब्द के पुराने प्रयोग का एक प्रमाण भी मिलता है। इन सभी अवतरणों के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि पुरुषकार अर्थात् पुरुष की कार्यक्षमता को पूरा महत्त्व देने वालों ने भी प्रायः नियति को सर्वथा हेय नहीं कहा है। प्रसाद जी की "आँसू" नामक रचना में तो उसे "एक ऐसी नटी के रूप में दिखलाया गया है जो नाचती हुई कंदुक क्रीड़ा करती रहती है और इस दुःखी विश्व के प्रांगण में अपने अतृप्त मन को तृप्त करने के लिए चेष्टाशील भी रहा करती है"[2], किन्तु उनकी रचना "कामायनी" से ऐसा लगता है कि वे किसी ऐसी स्थिति की भी कल्पना कर लेते हैं जिसकी अनुभूति हो जाने पर साधक किसी "निराधार" (जीवात्मा की अवस्था से परे शिवतत्व) को उपलब्ध कर, नियति के खेलों से पृथक् भी हो जा सकता है।[3] कहते हैं कि मुसलमानों के यहां नियतिवाद का पहले कुछ भी महत्त्व नहीं था, किन्तु आठवीं शताब्दी से, दमिश्क के केन्द्र के अधिक प्रभावशाली हो जाने पर, वहाँ की विभिन्न विचार धाराओं के प्रभाव में आकर, उसके सूफी संप्रदाय ने इसे विशेष रूप से अपनाया और तब से इसका यहाँ भी पूरा प्रवेश हो गया। मार्क्सवाद के लिए यह कहा जाता है कि उस पर नियतिवाद का प्रभाव है, किन्तु उसमें आये हुए इस सिद्धान्त से कि मनुष्य प्रकृति को, अपने स्वभाव को तथा सुषुप्त शक्तियों को बदलता और विकसित करता रहता है तथा प्रकृति के प्रभावों द्वारा निरंतर लाभ भी उठाया करता है यह सिद्ध होता है कि वहाँ पर भी, संभवतः दोनों प्रकार की विचारधाराओं का सामंजस्य है।[4] अतएव, जान पड़ता है कि नियतिवाद किसी प्रकार के साधारण तर्कों द्वारा कभी अपदस्थ नहीं किया जा सकता, केवल इसका रूपमात्र ही परिवर्तित हो सकता है। जब तक विश्व के मूल कारण, उसके नियंतृत्व, उसके सभी प्राणियों के सुख-दुःख एवं मानवों के कर्तव्याकर्तव्य जैसे प्रश्न उठते रहेंगे और उनके समाधान की चेष्टाएँ की जाती रहेंगी तथा जब तक उनके समाधानों द्वारा अंतिम संतोष उपलब्ध नहीं होता, हमें नियति के किसी न किसी रूप को स्वीकार कर लेना ही पड़ सकता है। इस युग में विज्ञान की बहुत कुछ उन्नति हो चुकने पर भी अभी हमारा किसी Chance वा आकस्मिक कारण का अनुमान कर लेना इस बात को सिद्ध करता है कि उपर्युक्त महत्वपूर्ण प्रश्नों की भूल भुलैया में भी हम अभी कदाचित् बहुत दिनों तक किसी "दैव", "हठ" वा "नियति" जैसी अनुपम एवं "अज्ञेय" शक्ति के विषय में अनुमान करते ही रहेंगे। इस संबंध में यहाँ पर एक यह बात भी उल्लेखनीय है कि नियति के प्रसंग में आने वाले विविध नामों में से अधिकतर वे ही दिये जाते आये हैं जो अनिश्चित और अस्पष्ट भावों वाले हैं। यह परम्परा भी बहुत पुरानी है और जैसा हैरोडोटस तक ने कहा है "प्राचीन पैलासजियन लोग नियति से भयभीत हो अनेक देवताओं

१. "श्वेताश्वतरोपनिषद् (१—२)।
२. प्रसाद : "आँसू" (भारतीय भंडार पंचम संस्करण) पृ० ५१।
३. वही : "कामायनी" (रहस्य सर्ग, पृ० २६०)।
४. आचार्य नरेन्द्र देव : "राष्ट्रीयता और समाजवाद" पृ० ४८०—१।

को भेंट चढ़ाया करते थे, किन्तु वे उनके नामों वा उपाधियों तक से भी परिचित नहीं थे और वे उन्हें केवल देवता तथा नियंता मात्र कह देते रहे।"[1]

मक्खलि गोशाल के नियतिवाद के साथ एक परमाणुवाद भी आजीवकों में चलता रहा जिसकी ओर कुछ संकेत किया भी जा चुका है।[2] दक्षिणी तमिल ग्रन्थ "मणिमेखलै" के आधार पर जान पड़ता है कि आजीवकों में, कदाचित्, दो भिन्न भिन्न उप-संप्रदाय भी बन चुके थे जिनमें से एक के अनुसार कर्मवाद के सिद्धान्त के अधिक प्रचार द्वारा नियतिवाद कुछ हतोत्साह पड़ता जा रहा था और "नीलकेशी" के अनुसार "अविचल नित्यत्व" की धारणा और भी दृढ़तर होती जा रही थी, नियतिवाद के अनुसार नियति के साथ दो अन्य नियम भी उसके भीतर काम करते थे जिन्हें क्रमशः "भाव" एवं "संगति" कहा जाता था और इनमें से प्रथम का क्षेत्र जहां किसी व्यक्ति या वस्तु का आंतरिक विशिष्ट स्वभाव था वहां दूसरे का संबंध उसके बाहरी वातावरण से कहा जा सकता था। परन्तु इनमें से किसी के भी विषय में पीछे अधिक विचार विमर्श नहीं हो सका और न उनके संबंध की विचारधाराओं का कोई निश्चित विकास ही हो पाया। आजीवकों का संप्रदाय मौर्यकाल में प्रगतिशील था और उसे कुछ प्रतिष्ठा भी प्राप्त रही, किन्तु कुछ आगे क्रमशः उसका ह्रास ही होता गया जान पड़ता है और यदि उसका अस्तित्व बना रहता है तो वह भी दक्षिण के तमिल प्रान्तों में ही लक्षित होता है और वह भी वहां अधिक से अधिक चौदहवीं शताब्दी तक ही सुन पड़ता है।

---

१. मेकेंजी: "मिक्स आफ़ बैबिलोनिया" पृ० ३१७ पर उद्धृत ।

२. कहते हैं कि मक्खलि गोशाल ने अपने मत का परिवर्त्तन जीवविज्ञान के व्यापक सिद्धांतों के अनुसार किया था और उसके अंतर्गत वनस्पति शास्त्र (Botany), प्राणिशास्त्र (Zoology), भूगर्भशास्त्र (Geology), शरीर विज्ञान (Anatomy), भौतिक रचना शास्त्र (Physiology) तथा गर्भ विज्ञान (Embryology) जैसे वैज्ञानिक शास्त्रों की बातें आ जाती थीं और उन्हें और भी अधिक विकसित करने का कार्य जैनधर्म वालों ने अपने विविध आगमों द्वारा किया। (दे० Dr. B. C. Law: India as described in the Early Texts of Buddhism and Jainism, p. 260)

डॉ० सत्येन्द्र

ओघ-द्वादशी तथा वछवारस

नरबलि

'नरबलि' का विषय महत्त्वपूर्ण है । नरबलि का उल्लेख भारतीय साहित्य में मिलता है । वैदिक साहित्य में भी इसका उल्लेख है । वेदों में तो वरुण से शुन:शेप की प्रार्थना ही दी गयी है । पर उसके बाद के वैदिक साहित्य में शुन:शेप की बलि की पूरी कहानी है । इस कहानी में निम्नलिखित बातें ध्यान आकर्षित करती हैं ।

१—वरुण आर्य देवता है । शत-प्रति-शत आर्य देवता । इसमें आज तक किसी विद्वान् को संदेह नहीं रहा ।

२—यह वरुण हरिश्चन्द्र को वर देकर पुत्रवान बना देता है पर

३—यह शर्त हरिश्चन्द्र से करा लेता है कि उस पुत्र को वह वरुण को दे देगा ।

४—पुत्र हुआ, रोहित उसका नाम रखा गया ।

५—रोहित के हो जाने पर हरिश्चन्द्र का मन डिग गया, वह अब यह चाहता है कि किसी प्रकार वरुण को रोहित न दिया जाय ।

६—जब जब वरुण रोहित को मांगने आता है तब तब हरिश्चन्द्र कोई न कोई बहाना बनाकर टाल देता है ।

७—रोहित के बड़े हो जाने पर उसे बनों में भ्रमणार्थ भेज दिया जाता है ।

८—जब यह विदित होता है कि वरुण बिना रोहित को लिए मानने वाला नहीं तब वरुण से यह सौदा किया जाता है कि वह रोहित न ले, उसके बदले में किसी अन्य व्यक्ति को उसे दे दिया जाय ।

९—वरुण रोहित के बदले में किसी अन्य को लेने को प्रस्तुत ।

१०—रोहित के बदले में वरुण को देने के लिए दरिद्र अजीगर्त के सबसे छोटे पुत्र शेन:शेप को गायें मूल्य में देकर खरीदा जाता है ।

११—शुन:शेप को वरुण को देने के लिए यज्ञ किया जाता है जिसमें विश्वामित्र आदि कितने ही ऋषि उपस्थित हैं ।

१२—शुनःशेप को यूप से बांध दिया जाता है जैसे अन्य बलि-पशु को बांधा जाता है।

११—बलि देने का यथार्थ कार्य कौन करे ? इसके लिए दरिद्र अजीगर्त को और गौएं मूल्यस्वरूप दी जाती हैं और वह पिता होकर भी स्वयं अपने पुत्र को बलि देने के लिए प्रस्तुत हो जाता है ।

१४—यह समझकर कि अब उसे बलि के रूप चढ़ा दिया जायगा शुनःशेप सभी ऋषियों से प्रार्थना करता है कि वे उसे मुक्त करायें ।

१५—विश्वामित्र तत्पर हो जाते हैं पर वे शर्त रखते हैं कि शुनःशेप उनका पुत्र हो जाय।

१६—शुनःशेप विश्वामित्र का पुत्र होना स्वीकार कर लेता है ।

१७—तब विश्वामित्र द्वारा बतायी गयी विधि से वह वरुण से प्रार्थना करता है ।

१८—वरुण प्रार्थना से प्रसन्न हो जाता है और उसे मुक्त कर देता है।

महत्वपूर्ण इस कहानी में यह है कि वरुण आर्य देवता होकर भी नर-बलि लेने के लिए आग्रहशील है। आर्य ऋषियों के समक्ष पूरे अनुष्ठान के साथ बलि होने जा रही है। आर्य अजीगर्त स्वयं अपने पुत्र को बलि देने को प्रस्तुत है।*

इस वैदिक नरबलि का समस्त अनुष्ठान १९ वीं शताब्दी तक प्रचलित जंगली जातियों में मिलने वाली नर-बलि की प्रथा से बहुत मेल रखता है ।

जातक में भी नर बलि का उल्लेख है। उसमें ये तत्व हैं:

१—एक राजा नया द्वार बनवा रहा था ।

२—उसके मंत्री ने सलाह दी ।

३—एक ब्राह्मण की बलि दी जावे ।

४—उसका रक्त-मांस पूजा पर चढ़े

५—उसका शरीर नये द्वार के नीचे दबाया जाय ।

६—बलि-पात्र ब्राह्मण बच निकला

७—स्वयं पुरोहित की बलि की बारी आयी पर बुद्ध ने उसे बचाया ।

८—बुद्ध ने मरी बकरी द्वार के नीचे दबवायी ।

एक अन्य कहानी में

एक राजा अपने समस्त कुटुम्ब की बलि चढ़ाने को प्रस्तुत हुआ ।

संस्कृत साहित्य में हमें भवभूति के नाटकों में इसका संकेत मिलता है ।

---

* नरबलि पर वाजसनेयी संहिता में उल्लेख है कि पुरुषमेध में वैदिक काल में एक नपुंसक व्यक्ति (हिजड़ा) पाप्मन् पर बलि चढ़ाया जाता था। प्रजापति को दी जाने वाली बलि के लिए ब्राह्मण या शूद्र जाति का मनुष्य निषिद्ध था। श्री राजेन्द्रलाल मित्र ने १८७६ के जनरल आव एशियाटिक सोसाइटी में 'भारत में नरबलि' शीर्षक निबंध लिखा था। जिसमें निम्नलिखित स्थापनाएँ की थीं :—

उस ने महाप्रसाद के रूप में ब्राह्मण अथवा मनुष्य की बलि का मांस बाजार में बिकता दिखाया है।

आधुनिक काल में प्रसाद जी ने स्कंदगुप्त नाटक में तांत्रिक बौद्ध के द्वारा 'देवसेना' की बलि की तैयारियाँ दिखायी हैं।

लोकवार्ता में तो मनुष्य-बलि या नर-बलि की बहुत व्याप्ति है। बैताल-पच्चीसी में तथा कथा-सारित्-सागर* में इसका उल्लेख है। इस सम्बन्ध में रिसालू की लोकवार्ता में नरबलि का उल्लेख है। सबसे अधिक जो हमारा ध्यान आकृष्ट करती है वह 'ओघ द्वादशी की कहानी' है। इस कहानी के कई रूप प्रचलित हैं। उनमें से एक रूप जो आगरे के अग्रवालों में प्रचलित है वह कुछ इस प्रकार है :—

ओख द्वास्स की कहानी

एक राजा था, उसके सात लड़के और सात बहुएँ थीं। वह एक दिन शिकार खेलने गया। वहाँ जंगल में उसे एक सूखा हुआ तालाब मिला। तालाब के हजार कोस तक पानी का नाम न था। वहाँ की जनता और जानवर प्यास के कारण मर रहे थे। राजा ने वहाँ का यह हाल देखा तो उसे बड़ा दुःख हुआ। उसने एक ज्योतिषी को बुलाकर पूछा कि क्या उपाय किया जाय जिससे इस तालाब में पानी आ जाय। ज्योतिषी बोला— यदि कोई आदमी एक गऊ, बछड़ा और अपने बेटे के पहल-पैलोठी के बहू-बेटे की बलि दे तो इस तालाब में पानी आ सकता है। बलि देने का निश्चय करके राजा अपने घर गया और उसने अपने सातों बहू-बेटों से पहल-पैलौठी का बहू-बेटा बलि

१—यह मानने के लिए कोई कारण नहीं कि प्राचीन काल में हिन्दू अपने देवताओं को नरबलि देने में अक्षम थे।

२—ऋग्वेद का शुनःशेप का मंत्र नरबलि अथवा पुरुषमेध यज्ञ से ही संबंधित है।

३—ऐतरेय ब्राह्मण में वास्तविक पुरुषमेध का उल्लेख है, किसी मानक रूप (Typical) का नहीं।

४—पुरुषमेध के लिए पहले सचमुच मनुष्य के बलिदान की ही आवश्यकता होती थी।

५—शतपथ ब्राह्मण में मनुष्य-बलि का तो विधान है, पर पुरुषमेध को प्रतीकात्मक (emblmeatic) ही बताया है।

६—तैत्तरीय ब्राह्मण अश्वमेध यज्ञ में नरबलि का विधान करता है।

७—पुराणों में चंडिका के लिए नरबलि मानी गयी है, पर पुरुषमेध यज्ञ का निषेध है।

८—तंत्र में भी चंडिका के लिए मनुष्यबलि का विधान है। मनुष्य न मिलने पर उसके पुतले को ही बलि देने का आदेश है।

[दे० टानी-पैंजर कससा IV p. 64]

* कथा साहित्सागर=कससा

के लिए माँगा । छः बड़े बहू-बेटों ने तो मना कर दिया किन्तु सबसे छोटी बहू राजी हो गयी और बोली ससुर हम सब तुम्हारे ही हैं, मेरे बहू-बेटे भी तुम्हारे ही हैं जैसा तुम चाहो करो । राजा यह सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ । वह गऊ-बछड़े और बहू-बेटे को लेकर ठीक तालाब के बीच बैठ गया और बोला, 'हे पानी देवता' यदि तुम इन चारों की बलि देने से प्रसन्न हो तो मैं इनकी बलि चढ़ाता हूँ । राजा के यह बात कहते ही तालाब में पानी चारों ओर से घुमड़-घुमड़ कर आ गया और उसमें बहू-बेटा—गऊ-बछड़ा चारों डूब गये । राजा तैर कर बाहर निकल आया ।

थोड़े दिनों बाद द्वास्सी का दिन आया । सबसे छोटी बहू राजा से बोली, ससुर जी जो तुमने कहा था वह मैंने किया, अब आज जो मैं कह रही हूं उसको तुम कर दो । ससुर ने उत्तर दिया 'बहू तुम मुझे काम बताओ, मैं जरूर करूँगा ।' बहू बोली—जिस तालाब में जिस जगह तुमने मेरे बेटा-बहू की बलि दी है उसी तालाब की उस खास जगह से ही तुम मेरे लिए दूब ला दो । आज मेरे मन में दूब से पूजा करने की है । राजा ने हामी भर ली और वह लेने चला गया ।

राजा ने उस तालाब के ठीक बीच में जाकर जैसे ही दूब उखाड़ी वैसे ही गऊ, बछड़ा और बहू के बेटा-बहू खिंचे चले आए । राजा उन चारों को जीवित देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ । वह इन चारों को घर ले आया । बहू अपने बेटा-बहू को देखकर फूली नहीं समायी । बहू बोली—ससुर तुम्हारे भाग्य । ससुर बोला—बहू तुम्हारे भाग्य ।

उस दिन सारे गांव में यह डौंड़ी पिटवा दी कि ओख द्वास्स के दिन बच्चे वाली औरत अपने बहू-बेटा को लेकर गाय—बछड़े की पूजा करे । गऊ का दूध नहीं पीये । दूध से बनने वाली चीजें भी न खायें । गऊ के ऊपर नाम पड़ने वाली चीजें जैसे गेहूं, गुड़, आदि चीजें भी न खायें । चना आदि मिस्सा खाकर दिन बीतायें । ओख द्वास्स परमेश्वरी जैसा उसके किया वैसा हर किसी के करियो ।

[सौ० विन्दु से प्राप्त]

लोहबन से मिलने वाली कहानी का सार इस प्रकार है:—

गांव की स्त्रियां गांव से बाहर ओध लेने जाती थीं । उनके साथ रानी भी जाया करती थी । स्त्रियों ने रानी से कहा कि उसे तो स्वयं अपना ही तालाब ओघ लेने के लिए बनवा लेना चाहिये । रानी को बात जंच गयी । उसने राजा से ताल बनवा देने के लिए कहा, तदनुसार एक ताल खोदा गया । कुछ दिनों में जब ताल खुदकर तैयार हो गया तो उसमें पानी नहीं निकला । इससे राजा को बड़ी चिन्ता हुई । राजा ने एक साधू से पूछा कि महाराज ! मेरे ताल में पानी क्यों नहीं निकला ? साधू ने गिन गिनाकर बताया कि ताल किसी पहलौठी लड़के की उसकी पत्नी के साथ बलि चाहता है । इन दोनों की बलि चढ़ते ही निश्चय ही तालाब में जल भर आयेगा । रानी ने अपने निजी पुत्र और उसकी पत्नी को बलि देने का निश्चय किया । वह दोनों को साथ ले गयी और उन्हें ताल को सौंप दिया । जब वह जोड़ा तालाब के ठीक बीच में पहुँचा तो तालाब में से पानी फूट पड़ा और वे दोनों उसमें समा गये ।

गाय और उसके बछड़े को साथ-साथ खड़ा करके ओघ लिये जाते हैं। एक सास अपनी बहू के साथ उसी तालाब के पड़ोस में रहती थी। उनके पास एक गाय थी जिसका नाम धानूरा था और एक बछड़ा था जिसका नाम पानूरा था। सास उस तालाब को देखने के लिए गयी और अपनी बहू से कह गयी कि वह धानूरा-पानूरा रांध रखे। उसका अभिप्राय चावल और अन्न की खिचड़ी से था। किन्तु बहू उसे ठीक न समझ सकी। उसे इस घर में पहली ओघ द्वादसी पड़ी थी। उसने सोचा, यह द्वादसी पर कोई रिवाज होता होगा। अतः उसने गाय और बछड़े को, जिनके नाम धानूरा पानूरा थे रांध लिया। जब सास लौटी और उसे विदित हुआ कि उसकी बहू ने गाय और बछड़ों को रांध डाला है तो वह स्तम्भित रह गयी। वह तब जल्दी से उस पके सामान को लेकर घूरे पर गयी और वहां उसे गाड़ दिया और यह प्रार्थना की कि हम लोग कोई भी अन्न का दाना आज नहीं छुआ करेंगे और न बासा खाना खायेंगे, न हम दूध और दही लेंगे। हम गाय और बछड़े की पूजा किया करेंगे। हे भगवान! यह गाय बछड़े जीवित हो जायं। उसकी प्रार्थना सुन ली गयी और गाय और बछड़े दोनों जीवित होकर उछलते कूदते घर चले आये।

ब्रज की इस कहानी में दो बलियों का उल्लेख है। एक मनुष्य बलि है। और दूसरी गाय और बछड़े की। यह कहानी ऊपर से ही दो भिन्न-भिन्न कहानियों से मिली प्रतीत होती है। एक कहानी राजा और रानी की मनुष्य बलि सम्बन्धी और दूसरी पड़ोसिन सास की गाय बछड़े की बलि की। आगरे से मिली हुई कहानी और इस कहानी में थोड़ा-सा ही अन्तर है और वह अन्तर केवल कथन का अन्तर है। उसमें भी पुरुष-स्त्री और गाय-बछड़े चारों की ही बलि ताल के लिए करायी गई है। स्पष्ट है कि कहानी का पहला मिला जुला रूप वह है जो लोहवन वाली कहानी में सुरक्षित है। उससे आगे विकृत होकर जो रूप बना वह आगरे वाली कहानी में है। अतः ब्रज की यह कहानी दो के मेल से बनी हुई है।

मनुष्य-बलि विषयक पहली कहानी महत्वपूर्ण है क्योंकि इसका यह रूप अन्यत्र भी मिलता है। मालवा में विशेष रूप से शाजापुर गांव में, देवास में और उज्जैन के जिले में एक गीत गाया जाता है। इसका नाम है 'बालाबऊ' यह गीत इस प्रकार है:—

राजा, कांय से आया दोई ओड़ ओड़नी
गड़ ओ मथरा से आया ओड़नी
राजा, मालवा से आया जी ओड़
कांय उतरा राजा ओड़ने
राजा, कांय उतरा रानी ओड़नी
मेलां उतरा राजा ओड़ने
राजा, कचेरयां उतरा रानी ओड़नी
कांय जिमाड़ा राजा ओड़ने
राजा, कांय जिमाड़ा रानी ओड़नी

खिचड़ी जिमाड़ा राजा ओड़ने
राजा, लापसी जिमाड़ा रानी ओड़नी
जीसा खोदाड़्या कूआ-बावड़ी
राजा, ससरा खणाया समन्द तलाब
कूआ ने बावड़ी राजा उगली र्‌या
राजा, सुकून पड़्यो समन्द तलाब
तेड़ो-तेड़ो ने बामण को डाबड़ो
अणां सरवर को मोरत देखाड़ो
पोथी बाचे हो बामण माथो फेरे
राजा, कहूं तो कह्‌यो नी जाय
राजा नेणां में आया ढलमल नीर
को तो सांची रे कई दो बामण
कहूं ता सांचो राजा, कह्‌यौ नी जाय
राजा, बड़ा बेटा-बऊ को मांगे सरवर भोग
हूं तने पूछूं म्हारा हंसकुमार बेटा
सरवर मागे तमारो भोग रे
हूं या नी जाणू म्हारा जी सा
जी सा, तमारा बालाबऊ ने जईकर पूछो
घोला घोड़ा ओ ससराजी जीण कस्या
राजा, दन तो उगे बालाबऊ का देस
ताता रे पाणी बालाबऊ मेलियो
ससराजी, होई तमारी न्हाबारी बेल
ऊना ने भोजन ससराजी ठंडा हुया
ससराजी, होई तमारी जीमवारी बेल
हूं तो नी न्हाऊं म्हारी बालाबऊ
बालाबऊ, कहूं तो क्यो नी जाय
हूं नी जीमू म्हारी बालाबऊ
बालाबऊ, कहूं तो कह्‌यो नी जाय
के तो सारी ओ राजा कई दीजो
ससराजी कोगा सोई कह्‌यो मनांगां
कांगा तो सारी ओ बालाबऊ
बालाबऊ सरवर मांगे तमारो भोग

हूं या नी जाणूं म्हारा ससराजी
ससराजी तमारा बेटा से जाय पूछो
आगे ससराजी पीछे बालाबऊ
राजा, दन तो उगे सासरे देस

× × ×

ससराजी तेड़ो-तेड़ो नावां रो पूत
राजा, नगरी में तेड़ो देवाड़ो
ससराजी, चरवा ऊनापाणी मेलो जी
ससराजी, बालाबऊ हंसकुंवर न्हवाड़िया जी
ससराजी, हेड़ो बगच्या कापड़ा
ससराजी, बालाबऊ हंसकुंवर पेरावजोजी
ससराजी, डावा रो गेणो मंगाड़ जो
ससराजी, बालाबऊ हंसकुंवर पेरावजोजो
ससराजी, कुंवारी केड़ो को गोबर मंगाड़ जो
ससराजी, ढक दई आंगणो लिपाड़ जो
ससराजी, गज-मोत्या को चोक पुरावो
ससराजी, ऊपर बाजोट्यों बिछाड़ जो
ससराजी, बालाबऊ हंसकुंवर बेठाड़ जो

+ + +

आगे आगे हंसकुंवर पांछे बालाबऊ
राजा, जेके पांछे नगरी का लोग
राजा, जई ऊबा सरवर पाल
पेली पेड़ी हो हंसकुंवर बालाबऊ पगधरया
राजा अंगूठा पे आयो यो नीर
तीसरी पेड़ी ओ बालाबऊ हंसकुंवर पग धर्या
राजा, गोड़ा पे आयो यो नीर
चारमी पेड़ी ओ बालाबऊ हंसकुंवर पगधर्या
राजा, कम्मर पे आयो नीर
पांचमी पेड़ी ओ बालाबऊ हंसकुंवर पगधर्या
राजा, छाती पे आयो यो नीर
छठमी पेड़ी ओ बालाबऊ हंसकुंवर पगधर्या

राजा, खांबा पे आयो यो नीर
सातमी पेड़ी ओ बालाबऊ हंसकुंवर पगधर्या
राजा चोटी पे आयो यो नीर
पीठ फेरी ने ससराजी, कंई हात जोड़ो
पाछी फरी जो ससराजी देख जो
ससराजी सरवर तमारो हिलोला यो खाय
हात सकेलो म्हारी बालाबऊ
बालाबऊ, चुड़ला से लागो यो नीर
खाजो पीजो ओ ससराजी, राज करजो
ससराजी जीवजो लाख करोड़*

व्रज की कहानी की ओघ द्वादशी वर्षा ऋतु में भादों के महीने का त्यौहार है, अतः निश्चयरूप से इसका सम्बन्ध वर्षा और कृषि विषयक अनुष्ठानों से है। ऊपर का 'बालाबऊ' का गीत भी वर्षा से सम्बन्धित है। अषाढ़ के महीने में जब वर्षा नहीं होती तब स्त्रियां एकत्र होकर अर्धरात्रि से पहले एक स्थान पर करुण स्वर में यह गीत गाती हैं। यह माना जाता है कि इस अनुष्ठान के उपरान्त मेह अवश्य आता है। इस मालवा के गीत में व्रज की कहानी की घटनाएं आयीं हैं। मालवा की कहानी में ओड़ राजा ने ताल खुदाया और रानी ने खुदाया कुआ-बावड़ी। कुआ-बावड़ी तो पानी से परिपूर्ण हो गये। ताल में पानी नहीं आया। एक ब्राह्मण ज्योतिषी ने बतलाया कि ताल तुम्हारे सबसे बड़े लड़के और उसकी पत्नी की बलि चाहता है। राजा ने अपने बड़े पुत्र हंसकुमार से कहा। वह बलि के लिए तैयार हो गया। उसने पिता से कहा कि वह बहू के पास और जाय। वह बालाबऊ के गांव गया। बालाबऊ तुरन्त ही ससुर के साथ चल दी। आवश्यक संस्कार के साथ हंसकुमार और बालाबऊ तालाब के पास गये। जैसे ही वह पहली सीढ़ी उतरे तालाब में से पानी उछला और उनके चारों तरफ आ गया। वे सीढ़ियां उतरते गये और पानी चढ़ता गया। यहां तक कि पानी सिर तक आ गया। तब बालाबऊ ने हाथ जोड़कर अपने ससुर से कहा—हे ससुर, अब आपका तालाब जल से लहरा रहा है, आप समृद्धिशाली हों और लाखों और करोड़ों वर्ष जीवित रहें और तब वे तालाव में समा गये।

यह कहा जाता है कि यह एक सच्ची कहानी है और वह ताल बालोण गांव में है और बालामाता अथवा बालोण का ताल कहलाता है। यह तालाब शाजापुर जिले के सुन्दरसी गांव के पास है। ऐसी ही एक कहानी निवाड़ जिले के सैंगांव तहसील में खरगुन-विरला नामक गांव के तालाब के सम्बन्ध में कही जाती है। इस गांव के पटेल ने स्वप्न में देवी को देखा जिसने पटेल से कहा कि वह अपने पुत्र और पुत्रवधू की बावड़ी में बलि

* भारतीय लोक-साहित्य : (श्याम परमार)।

दे तो उसके गांव का जल कष्ट दूर हो जायगा। जब उसका पुत्र और पुत्रवधू उस सूखे कुएं में उतर गये तब वह कुआं ऊपर तक पानी से लबालब हो गया*।

गुजरात में भी ऐसी ही एक कहानी प्रचलित है। यह कहानी सिद्धराज महाराज जयसिंह की है। मां के कहने से सिद्धराज ने सहस्रलिंग नामक विशाल ताल खुदवाया। ताल खुदते समय एक दुर्घटना हो गयी। ओढ़ लोग तालाब खोद रहे थे। उसमें जसमा नाम की सुन्दरी पर सिद्धराज रीझ गये। राजा से रुष्ट होकर जसमा और उसकी जाति के लोग उस स्थान को छोड़कर अपने देश को लौट गये। चलते चलते जसमा यह शाप दे गयी कि इस ताल में पानी नहीं आयेगा। इस शाप के कारण जब ताल सूखा रहा तो राजा और राजमाता बहुत चिन्तित हुए। पंडितों ने गणना करके बताया कि यदि ताल को किसी मनुष्य की बलि चढ़ा दी जाय तो पानी आ सकता है। यह कहा जाता है कि ढेढ़ जाति के एक आदमी ने अपनी बलि देने की स्वीकृति दी और शर्त यह रखी कि उसके बदले में राजा उसकी अत्यन्त नीच जाति को कुछ सुविधाएं प्रदान करेंगे। राजा ने वे शर्तें स्वीकार कर लीं और वह ढेढ़ तालाब में घुसा। जब वह बीच में पहुंचा तो पानी फूट पड़ा और तालाब जल से भर गया†।

श्री गुप्ते महोदय ने अपनी पुस्तक 'हिन्दू होलीडेज़ एण्ड सेरीमोनियल' में बताया है कि बंगाल में भादों शुक्ल छठ को चहरपोता या चोपड़ा षष्ठी मनायी जाती है और उसकी भी कुछ ऐसी ही कहानी है। इस कहानी में अपनी पत्नी के कहने से एक व्यक्ति ने तालाब खुदवाया जिससे उसकी पत्नी को चप्रषष्ठी की पूजा करने में सुविधा हो, किन्तु उसमें पानी नहीं आया। स्वप्न में षष्ठी देवी प्रकट हुईं और उन्होंने कहा कि वह अपने किसी नाती को बलि चढ़ाये। उसने अपने नाती का गला काटकर उसका रक्त तालाब में छिड़क दिया। वह पानी से भर गया और तब षष्ठी की पूजा की गयी। अब बलि दिये गये बच्चे की मां ताल पर षष्ठी की पूजा के लिए पहुँची तो उसे अपना बच्चा एक पालने में तालाब के ऊपर तैरता हुआ मिला। तब से पंडितों ने यह शिक्षा दी कि सभी औरतें अपने आंचल में केले रखकर और उन्हें गोद में लेकर चोपड़ा षष्ठी की कहानी सुना करें।

यह स्पष्ट है कि ब्रज की कहानी उसी कहानी का एक दूसरा कुछ परिवर्तित संस्करण है। बंगाली कहानी में बच्चा पुनरुज्जीवित होता है। यह पुनरुज्जीवन अनुष्ठान का ही एक अंग है। यह अंश ब्रज की लोहबन वाली कहानी में नहीं है। इसीसे यह कहानी अधूरी है। आगरे वाली कहानी में दूब उखाड़ने से गाय-बछड़े और बेटे-बहू के जीवित निकल आने की बात है। किम्बहुना बंगाली कहानी में निर्मम मनुष्य बलि प्रस्तुत की गयी है।

इन कहानियों में एक शब्द विशेषरूप से ध्यान आकर्षित करता है—यह शब्द है ब्रज का ओघ, ओग अथवा ओख, मालवे का ओड़, गुजराती का ओढ़। ओड़ और ओढ़ निश्चय ही एक शब्द हैं, उसी प्रकार ओघ और ओख भी। किन्तु यह ओघ है

* भारतीय लोक-साहित्य: (श्याम परमार)

† गुजरात से प्रो० चन्दारवाकर ने मुझे एक पत्र में सूचित किया है कि नरबलि से जल-प्लावन की लोकवार्ता गुजरात के और भी कई तालाबों के संबंध में भी मिलती है।

क्या ? ओंघ शब्द संस्कृत में भी है जिसका अर्थ होता है "राशि या समूह" तथा जल-प्लावन या भयंकर बाढ़। हिन्दी की लोकवाणी में ओघ शब्द नहीं है। उसमें एक शब्द ओग है। इस ओग के अर्थ होते हैं—वे चिह्न जो पानी की बड़ी बूंद के गिरने पर और कुछ दूर तक बहकर सूख जाने पर बन जाते हैं। निश्चय ही ओग द्वादसी का सम्बन्ध उस ग्रामीण कृषि सम्बन्धी अनुष्ठान से होगा जो प्रथम मेघ के स्वागत में जब कि बड़ी बड़ी बूंदों में कुछ मेघ पड़कर और भूमि पर कुछ चिह्न छोड़ता होगा, उस समय किया जाता होगा। सम्भव है इस ओघ अनुष्ठान में ओघ नाम के साम्य से ओढ़ बलि की कहानी इससे जुड़ गयी हो। दोनों ही वर्षा से सम्बन्धित हैं। अतः दोनों एक हो गयीं और लोक की व्युत्पत्ति के अनुसार ओढ़ ओघ में बदल गया। गुजराती, मालवी और ब्रज के शब्दों ने मालवा और ब्रज के वर्षा विषयक अनुष्ठान को एक दूसरे से घुला-मिला दिया।

अभी दूसरा प्रश्न सामने आता है कि यदि ओघ, ओग या ओढ़ दोनों एक हैं तो यह द्वादसी क्यों? क्या यह आकस्मिक है कि इस अनुष्ठान के लिए द्वादसी निश्चत की गयी या इसका सम्बन्ध किसी ज्योतिष की भूमिका से है या यह इसी तिथि को घटने वाली तिथि घटना का स्मरण दिलाने के लिए है। जब हम विविध त्यौहारों पर दृष्टि डालते हैं तो विदित होता है कि उनकी एक तिथि निश्चित है और उनके साथ कोई नाम जोड़ा गया है। हरियाली तीज, भैया दौज, देव छठ, नागपंचमी, रंगभरनी एकादशी, अहोई आठें, करवा चौथ आदि। अतः यह सिद्ध है कि तिथियों का ही महत्व है और त्यौहार के सम्बन्ध में उनके साथ कोई विशेषता है और उसी विशेषता के आधार पर उनका नाम रखा गया। अतः द्वादसी का नाम ज्योतिष गणना से ही निश्चित किया गया है और तब उसे ओघ अथवा वर्षा का स्वागत करने के लिए माना गया है।

यह कहानी ताल में जल-प्लावन के लिए मनुष्य बलि का उल्लेख करती है; अतः टोने के रूप में वर्षा कराने के लिए भी इसका उपयोग हो सकता है। लोक-कथाओं में और पुराण कथाओं में मनुष्य बलि का ऐसे प्रसंगों में बहुधा उल्लेख हुआ है। मधुर कण्ठ प्राप्त करने के लिए सरस्वती देवी को मनुष्य बलि दी गयी है। किसी स्थानीय देवी के क्रोध को शान्त करने के लिए मनुष्य बलि दी गयी है। यूनानी पुराण-कथा में उल्लेख है कि जब यूनानी सेनाएँ ट्रोजन युद्ध के लिए जा रही थीं तब औलिम्पिया के पास विपरीत हवाओं के कारण वे आगे बढ़ने से रुक गयीं। तब भविष्यवक्ताओं ने राजा और रानी को बताया कि उन्हें डायना देवी पर अपनी पुत्री की बलि चढ़ानी चाहिये क्योंकि राजा ने इस देवी के एक प्रिय बारहसिंगे को मार डाला था। इस बलि के हो जाने पर ये हवाएँ रुक जायेंगी। जब बलि देने के लिए उस लड़की पर वार किया गया तब रहस्यपूर्ण ढंग से वह लड़की तो लुप्त हो गयी और उसकी जगह पर एक असाधारण आकार का पक्षी पड़ा हुआ मिला।

ओल्ड टेस्टामेण्ट के अनुसार जेहोआ देवता ने अब्राहम से उसके इकलौते लड़के आइजक की बलि मांगी थी। यह बलि अब्राहम की भक्ति की परीक्षा के लिए मांगी गयी थी। जब अब्राहम स्वयं अपने पुत्र को बलि देने के लिए आघात करने वाला था तभी

उस पुत्र के स्थान पर एक भेड़ दिखाई पड़ी। भारतीय साहित्य में और पुराण-कथाओं में मनुष्य बलि के कितने ही दृष्टान्त मिलते हैं जिनमें से कुछ का उल्लेख ऊपर हो चुका है। राजा मोरध्वज की कहानी भी इसी शृंखला की कहानी है। राजा मोरध्वज की भक्ति की परीक्षा करने के लिए कृष्ण वेश बदल कर राजा के पास गये थे और उन्होंने मोरध्वज से उसके लड़के की बलि अपने सिंह के भोजन के लिए मांगी थी। इस बलि में यह शर्त रखी गयी थी कि राजा और रानी प्रसन्नतापूर्वक अपने बच्चे को स्वयं आरा चलाकर चीरेंगे और इस प्रकार टुकड़े करके उसे शेर को खिलाया जायगा। यह भी शर्त थी कि चिरते समय बच्चे की आँखों से आंसू की एक बूंद भी नहीं गिरनी चाहिये। इसी प्रकार यह बलिदान सम्पन्न हुआ और अन्त में कृष्ण ने उस लड़के को पुनरुज्जीवित कर दिया। राम-कथा में भी उल्लेख है कि देवी पर बलि चढ़ाने के लिए अहिरावण राम और लक्ष्मण को चुरा ले गया था। कथासरित्सागर में देवी पर ऐसी बलि चढ़ाने की कितनी ही कहानियां हैं।* वीर विक्रमाजीत की कहानी में राजा प्रतिदिन देवी को अपनी बलि चढ़ाया था और बदले में दान करने के लिए बहुत सी स्वर्णराशि देवी से प्राप्त किया करता था। देवी उसे प्रतिदिन पुनरुज्जीवित भी कर देती थीं। राजपूत इतिहास में यह उल्लेख है कि भयंकर युद्धों से पूर्व राजाओं को स्वप्न में देवी दर्शन देती थीं और मनुष्य रक्त मांगती थीं। किसी तांत्रिक विधि को सम्पन्न करने के लिए मनुष्य-बलि देने की बात भी मिलती है। ३१ जनवरी १६३२ की एक घटना है कि सोमवरप्पपि गांव में कंडीयम्मन रथ-यात्रा उत्सव पर एक पुजारी ने अपने लड़के की बलि चढ़ा दी थी क्योंकि देवी ने स्वप्न में प्रकट होकर यह बलिदान मांगा था जिससे विगत दो वर्षों में रथयात्रा उत्सव न करने के पाप का प्रायश्चित्त हो सके।

---

* कससा में एक श्रीदत्त की कहानी है, जिसमें एक बार शबर लोग देवी पर बलि चढ़ाने के लिए किसी को पकड़ लेते हैं, किन्तु शबर की लड़की से गंधर्व विवाह करके वह अपनी मुक्ति का मार्ग निकाल लेता है। फिर कुछ दिन बाद उसे दस्यु फिर पकड़कर दुर्गा पर बलि देने को तैयार होते हैं। यहाँ भी वही शबर पुत्री सुन्दरी उसे बचा लेती है।

(टानी—पेंजर का कससा प्रथम भाग पृ० ११६।)

देवताओं ने दानव नमुचि से प्रार्थना की कि वह पुरुषवेध के लिए अपना शरीर दें दे।

(टा० पें० क० स० सा० IV पृ० ६४।)

मोरध्वज की कथा से मिलती-जुलती कहानी कससा में है एक ब्रह्मपिशाच की। उसने राजा से रुष्ट होकर कहा कि अब राजा तभी बच सकता है जब वह किसी ब्राह्मण बालक की उसे बलि चढ़ाये। बालक छोटी उम्र का हो, प्रसन्नता से वह बलि के लिए प्रस्तुत हो, बलि के समय एक हाथ उसकी माता पकड़े, एक हाथ पिता पकड़े, और राजा स्वयं अपने हाथ से उसका बध करे।

जगदेव पूंवार नें (सिद्धराज) जयसिंह की आयु बढ़ाने के लिए देवी को अपने समस्त कुटुम्ब की बलि चढ़ा दी थी।

आंध द्वादसी की कहानी में जिस प्रकार तालाब में जल के लिए मनुष्य-बलि करायी गयी है वैसे ही आदिम जातियों ने दलदल से कृषि योग्य भूमि को प्राप्त करने के लिए जो बलियाँ चढ़ायीं उन की कहानियां हैं कि मनुष्य का रक्त देने पर अथवा मनुष्य की बलि देनें पर दलदल सूख गया और भूमि कृषि के लिए मिल गयी। अभी कुछ दिन पूर्व ही भारत की आदिम जंगली जातियों में पृथ्वी को मनुष्य-बलि इसीलिए दी जाती थी कि फसल खूब फूले फले और लोग स्वथ्य रहें और समृद्ध हों।

आंध द्वादसी की कहानी अनुष्ठान से सम्बन्धित है। अत: यह स्पष्ट है कि यह कहानी केवल कहने और सुनने के आनन्द के लिए नहीं कही जाती। यह माहात्म्य-कहानी है जिसे यदि धार्मिक निष्ठा से सुना जाय तो समृद्धि प्राप्ति होगी और मेह बरसेगा। अत: इस कहानी में टोने का भाव छिपा हुआ है। अत: यह कहा जा सकता है कि यह कहानी उस काल का प्रतिनिधित्व करती है जब कि यह माना जाने लगा था कि यदि बलिदान की कहानी दुहरा दी जायगी तो मानसिक रूपेण वास्तविक बलिदान माना जायगा। मेरे विचार में इस अवस्था तक हम इस क्रम से पहुँचे :—

१—वास्तविक बलिदान

२—क्षुब्ध बलिदान—जैसे वैदिक काल में शुन:शेफ को बलिदान होने से अंतिम घड़ी में ऋषि विश्वामित्र ने बचा लिया।

३—प्रतिनिधानी बलिदान—आदमी के स्थान पर किसी पशु या पक्षी का प्रतिनिधान के रूप में बलिदान जैसे ओल्ड टेस्टामेण्ट की कहानी में।

४—प्रतीकी बलिदान—मनुष्य अथवा किसी जीवित प्राणी को बलि न देकर उसके स्थान पर उसकी मूर्ति या चित्र की बलि जैसे ब्रज में शकट चौथ के अवसर पर कुछ कुटुम्बों में तिलकुटे से एक मनुष्य की सी आकृति बनायी जाती है और घर के एक लड़के से चाकू द्वारा उसे गर्दन से काट देने का विधान होता है। इस प्रकार से जो बालक सिर काटता है उसे पुरस्कार में वह सिर ही मिल जाता है। शेष कुटुम्ब शेष भाग को प्रसाद के रूप में ग्रहण करता है। तंत्र में मनुष्य के पुतले की बलि का बिधान है।

५—वाणी प्रतीकी बलिदान—चित्र अथवा मूर्ति न बनाकर कहानी कहकर ही बलिदान को पूर्ण हुआ मान लिया जाता है। आज ऐसी कहानियों के साथ बलिदान विषयक विश्वास नहीं रह गया। कहानी कहने वाला अथवा सुनने वाला आज एक क्षण के लिए भी यह नहीं सोचता कि इस कहानी के द्वारा वे मनसा-बलिदान कर रहे हैं। यह भाव अब लुप्त हो गया है।

६—अंतिम अवस्था में यह अनुष्ठानिक कहानी केवल माहात्म्य कथा का रूप ग्रहण कर लेती है जिसके कहने सुनने से और विधि का पालन करने से लाभ प्राप्त होता है। लोक धर्म के विकास की यह अंतिम सीढ़ी है।

जैसा ऊपर बताया जा चुका है, ब्रज की कहानी दो कहानियों से मिलकर बनी

है। पहले भाग में स्वेच्छा से मनुष्य बलि का विधान है और वह कहानी अपने रूप में पूर्ण है। यह बंगाली लोकवार्ता की चप्र षष्ठी की वार्ता से सिद्ध हो जाता है। श्री गुप्ते महोदय ने बंगाल की वसुवारस अथवा वत्स द्वादसी की भी एक बंगाली कहानी दी है जो ब्रज की कहानी के दूसरे भाग से मिलती जुलती है। गुप्ते महोदय की बंगाली वसुवारस की कहानी का सार इस प्रकार है:—

एक नगर में एक वृद्धा रहती थी। उसके बहुत सी गायें और बछड़े थे। आश्विन महीने को बारस के दिन वह अपने खेत पर गयी और अपनी पुत्रवधू को कह गयी कि वह कोई साग-भाजी बना ले किन्तु बहू उसे ठीक ठीक नहीं समझ सकी और उसने एक बछड़ा मार कर पका लिया। जब वह भोजन कुटुम्बियों को परसा गया तो वे बड़े भयभीत हुए। वृद्धा अपने घर के देवालय में गयी और देवताओं से जाकर प्रार्थना की कि उस लड़की को क्षमा किया जाय, उससे यह पाप अनजाने में हुआ है। उसने यह भी कहा कि यदि मरा हुआ बछड़ा पुनः जीवित नहीं होगा तो वह आत्मघात कर लेगी। ईश्वर ने प्रार्थना सुन ली। शाम को जब गायें लौटकर घर आयीं तो वह बछड़ा जीवित हो उठा और उछल कर अपनी मां के पास पहुँच गया। वृद्धा बहुत प्रसन्न हुई और पुत्रवधू ने अपनी सास के प्रति कृतज्ञता प्रकट की। दोनों ने गाय और बछड़े की पूजा की और उन्हें अच्छा भोजन खिलाया: हिन्दू हालीडेज़ पृ० २४१। बंगाल में ही नहीं यह, वत्स द्वादसी अथवा बछवारस की कहानी अन्य क्षेत्रों में भी मिलती है। यहां डा० श्याम परमार द्वारा भेजी गयी मालवा में प्रचलित बाछवारस की कथा दी जाती है:—

बछवारस की कहानी : गोंगलो-मोंगलो

एक सास-बहू थी। सास जब माल (खेत वन) में जाने लगी तो बहू ने पूछा-सास जी आज क्या राँद लूं ?

सास ने कहा—"गोंगलो-मोंगलो (गेहूं मूंग का खिचड़ा) राँद लेना।"

उस घर में दो बछड़े थे। दोनों के नाम थे—'गोंगलो और मोंगलो।' बहू ने उन्हें राँद लिया।

सब जब बन से लौटी तो बहू ने कहा कि आओ अपने भोजन कर लें।

भोजन करने बैठे। सास ने देखा कि आज दोनों बछड़े नहीं हैं। बहू से पूछा तो उसने तुरन्त कहा कि आपके कहने से उन्हें तो मैंने राँद लिया है।

सास को बड़ा दुःख हुआ। वह बोली तैंने यह क्या किया बहू ? इनकी गाय आयेंगी तो क्या होगा ?

सन्ध्या को गाय लौटी तो द्वार पर से उसने मां मां करना आरम्भ किया।

सास ने मनौती की कि हे बछवारस माता यदि इन केड़ों को जीवित कर दे तो मैं तेरी पूजा करूँगी और सातों लोक में तेरी पूजा होगी।

भगवान की कृपा हुई, गाय की मां मां सुनते ही दोनों बछड़े हंड़े में से कूद कर गाय के पास आगये।

तभी से सातों लोक में बछवारस के दिन गोंगलो मोंगलो की पूजा होती है। बछ-वारस का व्रत किया जाता है।

मालवा में प्रचलित इस कहानी से भी इस बात की पुष्टि होती है कि गाय-बछड़ों को रांदने वाली कहानी एक अलग कहानी है और वह बछवारस की कहानी है। दोनों कहानियों में कई मौलिक अन्तर हैं: जैसे एक कहानी बलिदान की कहानी है। स्वेच्छा से किसी लाभ की आशा में नर बलि दी गयी। जबकि दूसरी कहानी में न तो बलिदान की भावना है और न उस बलिदान के पीछे किसी लाभ की आशा।

एक कहानी सामान्यत: बलिदान हो जाने और लाभ की प्राप्ति पर समाप्त हो जाती है। यद्यपि इस कहानी के किसी किसी संस्करण में बलि किये हुए व्यक्ति पुन: प्राप्त हो जाते हैं किन्तु उन्हें पाने के लिए इस कहानी में कोई अनुष्ठान अथवा उद्योग नहीं किया गया जबकि दूसरी कहानी में बलिदान अथवा बछड़ों की हत्या उद्देश्य से नहीं, भूल से हो गई है और कहानी का बल उस मनौती पर विशेष है जिसमें बछड़ों के जीवित करने की प्रार्थना है।

एक कहानी में क्योंकि बलिदान का भाव है इसलिए इसी प्रकार के दु:ख, शोक, पाश्चात्ताप अथवा प्रायश्चित्त का भाव नहीं है जबकि दूसरी कहानी में समस्त कहानी का शोक, पाश्चात्ताप और प्रायश्चित्त ही मूल आधार है। इस अभिप्राय भेद से भी यही सिद्ध होता है कि दोनों कहानियों का उद्गम भिन्न भिन्न स्रोतों से हुआ है और वे ब्रज में किसी आनुष्ठानिक भ्रम के कारण एक से दूसरे में मिल गयीं हैं।

इस मिलावट की इतनी व्याख्या से ही काम नहीं चल सकता। ओघ द्वादसी के अनुष्ठान के विधान को भी देखना होगा। लोहबन में ओघ द्वादसी की पूजा का विधान ईस प्रकार है :—

गौरी की और बछड़े वाली गाय की पूजा की जाती है। गौरी की एक मिट्टी की प्रतिमा बनाते हैं। उसको एक पट्टे पर स्थापित किया जाता है। रोरी और चावल से पूजा होती है। गाय को पांच आटे के लोये खिलाये जाते हैं। विवाह के पहले वर्ष में गाय को फरिया उढ़ायी जाती है और चांदी की खुरी बनवायी जाती है।

पांच-सात स्त्रियां एक साथ भी पूजा करती हैं। दो से कम पूजा नहीं करतीं। उस समय बेरिया का डेढ़ पत्ता, दही की एक फिटक और चावल, एक दूसरी के हाथ पर रखती हैं। इसको ओघ लेना कहते हैं। फिर इस सामग्री को बिना दांत लगाये निगला जाता है। इस दिन बिना 'तीकुर' का अन्न खाया जाता है।

जो पुत्रवती स्त्री होती है वह गाय का गरम दूध नहीं पी सकती। उसको बासी दूध ही पीना होता है। (श्री चन्द्रभान रावत से प्राप्त)

और इसी ओघ द्वादसी की पूजा का आगरे के अग्रवालों में यह आनुष्ठानिक रूप है :—(दे० पृ० ५१)

इस प्रकार का पट्टा बनाकर बहू-सास या मां-बेटे दूब को दोनों हाथों में लेकर अपने पल्ले का छोर पकड़ कर साथ में सोने या चांदी का टुकड़ा लेकर रोली और
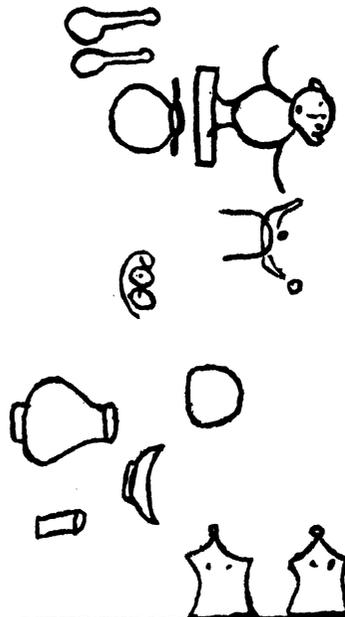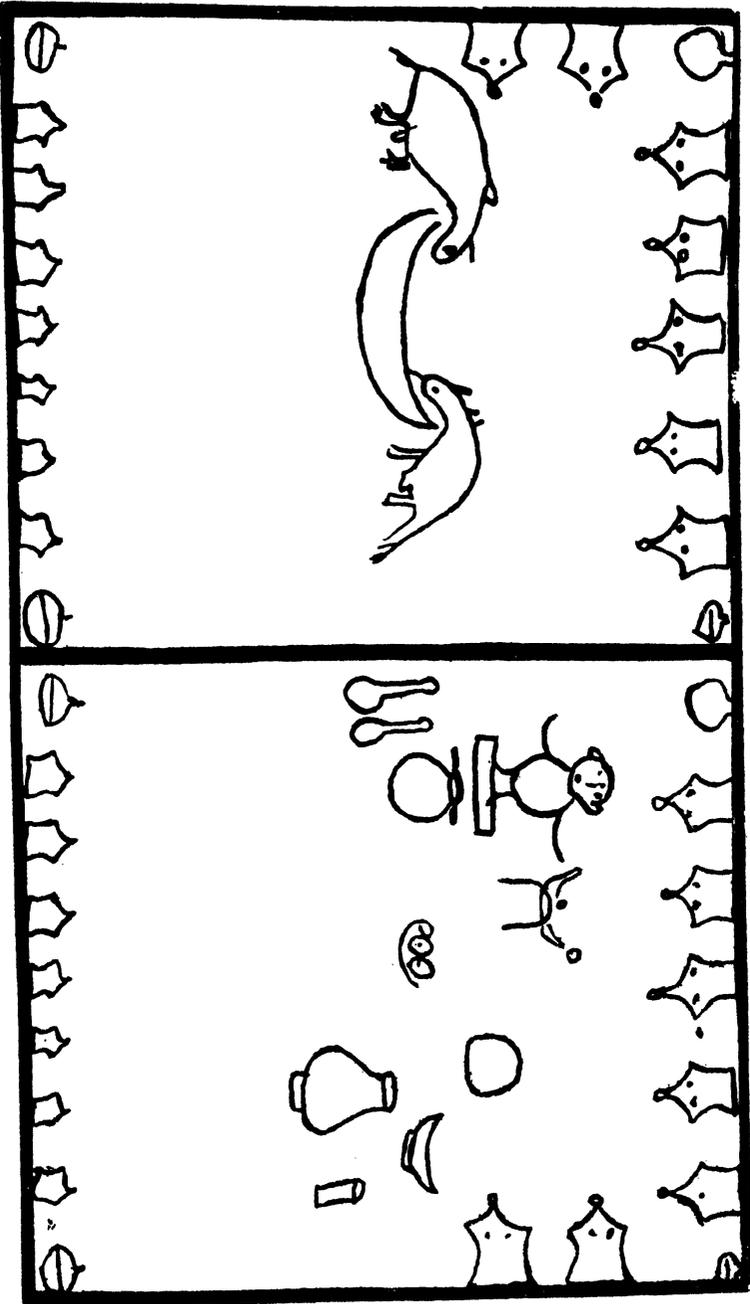
दही में दूब को डुबाकर गाय और बछड़े की नांद में डालते हैं, इसे ही ओख चढ़ाना कहते हैं। भीगे चने और भीगी साजी मूंग से पूजा आवश्यक मानी गयी है। साथ में ओख द्वास्स की कहानी कहते हैं। फिर सब के टीके होते हैं और अन्त में बहू बायना काढ़कर सास को देनी है। बायने में कच्चे बाजरे के आटे और कच्चे चावल के आटे को लेकर उसमें शक्कर डालकर लड्डू बनाये जाते हैं। इसी चीज़ का बायना होता है।

(सौभाग्यवती विन्दु अग्रवाल एम० ए० से प्राप्त)

अतः बंगाल और मालवा की कहानियों से तथा ब्रज के दो स्थानों के पूजा-विधानों से स्पष्ट हो जाता है कि 'ओघ द्वादशी' की कहानी का मूल 'गौ-वत्स' पूजा में ही है। पूजा-चित्र भी यही दिखाते हैं। अतः 'ओघ द्वादशी' वस्तुतः 'बछवारस' का ही रूपान्तर है।

निष्कर्ष

अब इन दोनों कहानियों को अलग-अलग मानकर चारों स्थानों की कहानियों के अभिप्रायों को तुलनापूर्वक देख सकते हैं:—

इस तुलना से यह स्पष्ट होता है कि

१—नरबलि की कहानी षष्ठी की कहानी है।

२—वत्स-बलि अथवा वत्स-हत्या की कहानी द्वादशी, ओघ द्वादशी अथवा बछवारस की कहानी है।

३—प्रथम स्थिति में ये दोनो कहानियाँ अलग-अलग रहीं।

४—दूसरी स्थिति में ब्रज में ये कहानियाँ लोहबन वाले रूपान्तर को प्राप्त हुईं, जिसमें दोनों अलग अलग रूप रखते हुए भी स्पष्टतः जुड़ी प्रतीत होती हैं।

४—तीसरी स्थिति में आने पर कहानी ने आगरे वाला रूप ग्रहण किया।

५—दूसरी स्थिति की कहानी का संबंध कृषि-क्षेत्र से विशेष है। उसमें गाय और बछड़े को महत्त्व प्राप्त है।

६—तीसरी स्थिति की कहानी का संबंध उस क्षेत्र से है जिसके निवासी अब कृषि को महत्त्व नहीं देते। वत्स अथवा बालक या लड़के को महत्व देते हैं। इसीलिए 'नरबलि' के रूप की प्रधानता है, पर उसी के साथ 'गाय और बछड़ा' भी जोड़ दिये गये हैं, और नरबलि के साथ यह गो-बलि भी एक ही विधि और रूप से दिखायी गयी है।

अब यहाँ यह प्रश्न प्रस्तुत होता है कि ये दोनों कहानियाँ इस प्रकार जुड़ कैसे गयीं? किस क्षेत्र में जुड़ी? लोहबन वाली कहानी कृषक-जमींदार ब्राह्मण घराने से मिली है। दूसरी कहानी व्यवसायी अग्रवाल वनिये परिवार से। इस तथ्य से यह विदित होता है कि ये कहानियाँ 'कृषिक्षेत्र' में ही एक दूसरे से जुड़ीं। 'बछ-वारस अथवा ओघ द्वादशी' प्रधानतः कृषि-जल का व्रत है। इसकी कहानी में गाय और बछड़े की प्रधानता होनी चाहिये। इस क्षेत्र से यह कहानी नगर के व्यवसायी क्षेत्र में गयीं, जिसमें 'पुत्र-

कामना' की प्रधानता है, पर बछ-वारस अथवा ओघ द्वादशी के पर्व के महत्त्व की दृष्टि से गाय और बछड़े को भी जोड़ लिया गया ।

कैसे और क्यों जुड़ी, ये दोनों अलग अलग कहानियाँ ? इसका समाधान यही हो सकता है कि जिस क्षेत्र में ये कहानियाँ जुड़ीं वहाँ षष्ठी देवी का महत्व नहीं होगा । व्रज में षष्ठी देवी का महत्व नहीं । षष्ठी तिथि की पूजा नहीं होती । इसका अवशेष जातकर्म संस्कारों में "छठी" में तो मिलता है, पर यह छठी जन्म-दिन से छठे दिन होती है, छठ तिथि को नहीं । षष्ठी की एक दूसरी कहानी व्रज में स्याहू की कहानी हो गयी है । यहाँ भी यह उस षष्ठी से संबंध छोड़ बैठी है । पर संतान की कल्याण-कामना के लिए षष्ठी की इस कहानी का माहात्म्य लोक में माना गया होगा, इसीलिए कहानी के फल के लिए इस कहानी को बारस की कहानी से जोड़ दिया गया होगा ।

इन दोनों कहानियों में से बछ-वारस वाली कहानी में एक ऐसी घटना है जो विचार चाहती है । बछवारस वाली कहानी का मूलाधार 'भ्रम' है । 'भ्रम' भी शब्दों के कारण है । धानूरा-पानूरा या गोंमलो-मोगलों के दो अर्थ होते हैं । सास ने शब्दों का प्रयोग एक अर्थ में किया । बहू ने दूसरा अर्थ समझा और परिणाम हुआ 'बछड़ों की हत्या' । अब प्रश्न यह है कि गाय के बछड़ों के संबंध में जो संस्कार सास के थे, वे बहू के क्यों नहीं थे ? वह किसी ऐसे समाज से आयी प्रतीत होती है जिसमें 'गाय और बछड़ों' के संबंध में वैसा पूजा-भाव नहीं । यह भी विदित होता है कि बहू के यहाँ 'गो मांस' भक्ष्य होगा ? सास के यहाँ वह वर्जित है । क्या इस कहानी में किसी ऐसे युग का अवशेष है, जिसमें गोहत्या तो सामान्य धर्म था, और उससे गो-हत्या-निषेध की प्रवृत्ति का संघर्ष आरम्भ हुआ था । दूसरे शब्दों में यह कहानी क्या मांसाहारी युग की समाप्ति और कृषि-युग की संप्राप्ति की संक्रान्ति के अवशेष से संबंधित है ।

डॉ० हरिहरप्रसाद गुप्त

पाणिनिकालीन कुछ कृषि शब्दावली[1]

(संकेत:—आ० आज़मगढ़, इ०—इलाहाबाद, झां० —झांसी, फ०—फतेहपुर, बां०—बांदा, बि०—बिहार, रा०—रामपुर, ल०—लखीमपुर)

हल और जोत

पाणिनि ने तीन प्रकार के किसान कहे हैं—(१) अहलि—जिनके पास निजका हल न हो (२) सुहलि—जिनके पास बढ़िया हल होता था (३) दुहलि—जिसका हल घिस गया हो। आज भी आज़मगढ़ में तीन प्रकार के हल हैं[2] (१) नवहरा—यह बड़ी फालका नया और उत्तम हल कहलाता है इसे बिहार में नवघर या नौठा भी कहते हैं। (२) खुंटहरा—जिसका फाल छोटा और घिस चुका हो इससे केवल साधारण जोताई बोआई हो सकती है इसे बिहार में खुंटेहरा, या ढंठी या खिनौरी कहते हैं। मेरठ की बोली में इसे गलौथिआ (गलत्थिअ-देशी नाम माला २-७२-) कहते हैं। (३) दबिहरा या दबेहरा में हल और परिहथ एक ही लकड़ी का होता है इसमें जोड़ नहीं होता इसलिए यह अफार (बिना जोता खेत) को जोतने के लिए सबसे मज़बूत और अच्छा होता है अच्छे किसान के पास ये तीनों हल होते हैं।

ईख के बोआई में तीन हल एक साथ चाहिए सबसे आगे का हल मूँहि (सीता) की मिट्टी को साफ करता है इसे छिनुआ कहते हैं, इसके पीछे जो हल होता है उसमें मूँहि को और चौड़ी बनाने के हेतु हल के पिछले भाग में ईख के गेंडा को चोटी की तरह गुह कर बांध देते हैं, इस हल को पहिया कहते हैं और बँधे हुए सामान को लेदी।

---

१. यह निबंध मनीषी डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' के आधार पर लिखा गया है जिसके लिए मैं ऋणी हूं और आभार स्वीकार करना कर्त्तव्य समझता हूं।

२. दे० लेखक की 'ग्रामोद्योग और उनकी शब्दावली' प्रका० राजकमल दिल्ली पृ० १०-११

अंतिम हल-मूंहि अर्थात् कूंड़ या खूंड़ को भाठता चलता है एतदर्थ इसे मठुआ हल कहते हैं[1]।

डॉ० अग्रवाल लिखते हैं "एक हल की जोत के लिए पर्याप्त भूमि हल्य कहलाती थी (हलस्यकर्ष हल्यः ४-४-९७ काशिका)। इसी सूत्र के उदाहरण में द्विहल्य और त्रिहल्य अर्थात् एक हल की माप से दुगुनी, तिगुनी का भी उल्लेख है। वस्तुत: एक परिवार के भरण पोषण के लिए पर्याप्त भूमि की इकाई को द्विहल्या कहते थे, इसे ही मध्य काल में दोहली या डांहली कहने लगे जो भूमि मंदिर आदि के साथ राज्य की ओर से लगा दी जाती थी। मनु ने 'कुल' परिमाण भूमि का उल्लख किया है (मनु० ७-११९)। कुल्लूक के अनुसार यह दोहल जोत की भूमि थी। इसीलिए दान में दोहली भूमि देने की प्रथा चली जो एक कुटुम्ब के गुज़ारे के लिए काफी हो। एक हल धरती की माप पचीस सहस्र वर्ग हाथ (१$\frac{1}{3}$ एकड़) मानी जाती थी। इस हिसाब से द्विहल्य या दोहली भूमि २$\frac{2}{3}$ एकड़ होती थी। त्रिहल्य भूमि पूरे चार एकड़ की होती थी[2]।" संस्कृत कोषों में हल्या हल के समूह के लिए भी आया है तथा हल्य जोती हुई भूमि अथवा जोतने योग्य भूमि को कहते थे; द्विहल्य अथवा द्विसीत्य उस जोताई को कहते थे जो एक बार खड़े और एक बार बेड़े-खड़-बेंड़ की गई हो। इस समय भी वर्षा की प्रथम जोताई के बाद (आ०) दुबाही (कानपुर) साधारणत: दोहरौनी वा दोखड़ा पहली बार की जोताई के विरुद्ध दिशा में ही की जाती है ताकि मिट्टी के ढेले फूट जायं। इसी प्रकार तिबाही में दुबाही की विरुद्ध दिशा में जोतते हैं। द्विहल्य का त्रिहल्य के पाणिनिकालीन अर्थ में, किसी किसान की खेती का अनुमान लगाने के लिए, अब भी एक हर की खेती या दो हर या तीन हर की खेती हम पूछते हैं।

डा० अग्रवाल खेती के उपकरण हल का विवरण देते हुए लिखते हैं:—"बड़ा हल 'हलि' कहलाता था जिसे जित्य भी कहा गया है (३-१-११७) अवधी भाषा में अभी तक हरी और जीत शब्द सुरक्षित रह गए हैं। खेती के हल के साझे के लिए ये शब्द चलते हैं (कानेगी, कचहरी टेकनीकेलिटीज, इलाहाबाद १८७७ पृ० १४)। संभवत: नई धरती तोड़ने के लिए जित्य हल काम में लाया जाता था। ईख बोने के लिए खेत में चौड़ी खूंड बनाने के लिए बड़ा हल चलाते हैं, उसके पड़ौथे में गन्नों के टुकड़े बांध कर उसे भारी बना लेते है। उन्नाव में इसे सीर[3] और शाहजहाँपुर में 'हरी' कहते हैं।" (पृ० २००)

रामपुर जिले में जीता किसानों के परस्पर सहयोग को कहते हैं। किसान आपस के सहयोग के बदले में एक दूसरे के यहां काम करते हैं—मजदूरी नहीं लेते। किसी के

---

१. वही······पृ० ५२

२. दे० पाणिनिकालीन भारतवर्ष प्रका० मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी—पृ० १९८

३. 'सीर' शब्द के हल के अर्थ में वैदिक काल में आया है तथा कृषिदेवता को शुनसीर कहते थे (दे० वैदिक आर्यों का आर्थिक जीवन ना० प्र० प० वर्ष ५८ अंक ४ सं० २०१०), हल चलाने वाले बैल 'पाणिनि काल' में 'सैरिक' कहलाते थे ४।४।७६ (दे० पा०का० भा० पृ २०१)।

यहाँ समय पर सहायता करने का जीता करना तथा जीता के बदले में काम करने को जीता उतारना कहते हैं । लखीमपुर में यह जिता कहलाता है, आजमगढ़ जिले में इस प्रणाली को अंगवार कहते हैं । तथा जीता करने को अंगवार करब (करना) एवं जीता उतारने को अंगवार देब (देना) कहते हैं । बिहार में यदि कोई किसान मजदूरी के बदले में हल उधार पाता है तो इसे अंगवार कहते हैं और वह किसान अंगवरिया या भांजवाला कहलाता है । यदि अंगवार देने के लिए आजमगढ़ में किसान स्वयं नहीं आता तो वह अपना मजदूर भेजता है जिसे नेहनार कहते हैं । किसानों की इस पारस्परिक सहायता के लिए हि० में डंगवारा भी प्रयोग में आता है ।

खलिहान में ओसाने और ढ. ्याने के बाद जो गांठ या डंठल के टुकड़े निकलते हैं उन्हें हरवाह फिर से दांता है और इनसे जो कुछ दाना भूसा निकलता है वह उसी का होता है—इसे भी आज़मगढ़ में अंगवार कहते हैं । फतेहपुर तथा कानपुर में ओसौनी के समय भूसे के साथ जो गल्ला दूर बाहर गिरता है वह अंगवारी कहलाता है । यह भी हरवाह का होता है । बांदा में इसे अंगवार कहते हैं ।

अवधी में हरी बेगारी भी हरी जीत की भाँति प्रचलित है । प्रत्येक आसामी अपने जमींदार के यहाँ वर्ष में दोनों फसलों पर विशेषतः रबी के के समय कुछ दिन अपना हल बैल लेकर बेगार में काम करता था, उसे केवल दोपहर का चबैना मिलता था, इसे ही हरी बेगारी कहते हैं । जमींदारी के साथ यह प्रथा भी नष्ट हो गई है ।

पाणिनि ने खेत की जुताई का विवरण देते हुए दो बार की जोत को द्वितीया करोति तथा तीन बार की जोत को तृतीया करोति (५–४–५) लिखा है (पृ० २०१) । आजकल भी दूसरी जोताई को दूसरे करना, दोहरावन या दोहरौनी, दोखड़ा या दोखार तथा तिसरी जोत को तीसरे करना तेहरावन, तेखड़ा या तेखर कहते हैं । एक बार की जोताई को एक वाह या चास और दो बार जोते हुए खेत को दो बाह या दो चास या दूचास भी कहते हैं ।

बोना

बोने को वपु तथा बोने योग्य खेत को वाप्य (३-१-१२६) कहते थे (पृ० २०२) । आज भी बोना, बोआई, बोअनी (बिहार) बोनी (झांसी) बवै (बांदा) बोउनी (आजमगढ़) आदि शब्द प्रचलित हैं ।

बोआई की साधारणतः निम्न तीन पद्धतियाँ हैं :—

(१) पैरा—नम भूमि में यह बोआई अधिक अच्छी होती है । इसमें बीज को मुट्ठी में लेकर एक बार खड़े-खड़ और फिर बेडे-बंड छींटते हैं, इसे बेंगा छींटना भी कहते हैं तदनन्तर खेत को जोत कर हेंगा देते हैं । इस प्रकार बीज या बेंगा मिट्टी में मिल जाता है, इस क्रिया को मेरइब (मिलाना) कहते हैं । कुवारी धान इसी प्रकार बोते हैं । इस पद्धति में शीघ्रता होती है । इसे ही कहीं कहीं पबेड़ या छींट की बुआई कहते हैं ।

अरहर सनई तथा मेड़ुवा को अफार (बिना जोता हुआ खेत) में छींटकर खेत जोत कर हेंगाते हैं । उसे बिहार में छिट्टा, पैरा या बावग तथा फतेहपुर में ओठकाठ

कहते हैं। इसमें बोआई बराबर से नहीं होती। उपज कहीं बिड़र (फ०) फांफर (वि०) या लुतराह लुदकाह (आ०) हो जाती है।

(२) खुंटहर—इस पद्धति में आगे आगे हल चलता है पीछे पीछे बोवैया या (बौउनहरि=बोने वाली स्त्री) या बउका (झां०) कूंड में डालता जाता है, बोने के बाद खेत हेंगा देते हैं। यह बोआई खुंटहर (नवहरा का छोटा घिसा हुआ रूप इसमें फल छोटा रहता है) से करने के कारण खुंटहर की बोआई कहलाती है। इसे ही बेर की बोआई भी कहीं कहीं कहते है बिहार में इसे घारी या घारी लगाएव कहते है क्योंकि बीज एक पंक्ति में डाला जाता है। कानपुर में बोवैया कूंड़ में बीज नहीं डालता वहां हल में ही ऐसी सुविधा रहती है कि बीज अपने आप कूंड़ में गिरता जाय—परिहथ से सटाकर एक पोला बांस बाँधते हैं इसे बोउनी का बांस या नारी कहते हैं इसके ऊपरी भाग में मिट्टी या काठ या बांस का चिलम के आकार का एक पात्र रहता है जिसे परिया या ओइरा कहते है, बीज इसी में डालते हैं जिससे वह कूंड में गिरता जाता है। इस समय हरवाह की संज्ञा नरवाह हो जाती है। अलीगढ़ मथुरा प्रान्तों में जौ गेहूँ बोने के लिए जिस हल का प्रयोग करते हैं उसे नाई कहते हैं—नाई में एक पोला बांस बांध दिया जाता है जिसके द्वारा बीज कूंड में गिरता जाता है।

(३) रोपना (सं० रोपण)—इसमें पहले पौद तैयार की जाती है, बीज को पहले किसी जमीन में जहां पानी आदि की सुविधा हो छींट कर बो देते हैं। जब पौधे कुछ बड़े हो जाते हैं तब उन्हें खेत में ले जाकर रोपते हैं। अगहनी धान इसी प्रकार लगाते हैं—इस प्रकार तैयार किए हुए पौधों को पौद (गढ़वाल), बेहन या जरई (आ०) वियड (अवधी) तथा उस स्थान को जहाँ बेहन तैयार की जाती है बेहनौर तथा बेहन लगाने को बेहन बैठाइव (बैठाना) या रोपना (आ०) कहते हैं। फतेहपुर में बेहन को बैंड़या बींहड़ तथा रोपने की पद्धति को लउवा (कानपुर लेवा) तथा बैहनौर को बेंड़हा कहते हैं। मराठी तथा गुजराती में भी क्रमश: रोपणे व रोपवुं क्रिया का प्रचलन है। सुश्रुत में रोपे हुए धानों के गुणों की चर्चा इस प्रकार है, "रोप्या अतिरोप्या लघवः शीघ्रपाका गुणोत्तराः। अदाहिनो दोषहरा बल्या मूत्र विवर्द्धनाः ।।४।१६, २०।। अर्थात् रोप्य अतिरोप्य (धान) हलके, शीघ्र पचने वाले, गुण में श्रेष्ठ, दाह न पैदा करने वाले, दोषों को हरने वाले, बल कारक तथा मूत्र को बढ़ाने वाले हैं।

(४) डेरभना—जब बीज को हाथ से धरती में गाड़ते हैं तब उसे डोभब (वि०) कहते हैं। इसे ही कहीं चोबली भी कहते हैं।

(५) पताड़ बैठाना—ईख बोने के लिए गहरी कूंड़ बनाई जाती है जिसे मुंहि कहते हैं। ईख से गांठ युक्त टुकड़ों को जिन्हें पताड़, पेड़ (रा० पैड़ा) या गांडा (इ०) कहते हैं। मुंहि में बेड़े-बेड़ पांव अांतर (पाद-अंतर) पर पतांड़ डालते जाते हैं, पीछे वाला हल मुंहि को बगल की मिट्टी द्वारा भाठता जाता है इसीलिए इस हल का नाम भठुआ है। ईख की बोआई में तीन हल आगे पीछे चलते है जिनका विवरण ऊपर आ चुका है। रामपुर में मुंहि चौड़ी करने के लिए हल में दो पटरे बांधते हैं जिन्हें फरा कहते

हैं। ईख बोने के लिए फावड़े से नाली को और चोड़ी करते हैं जिसे गूल और गूल बनाने कोगूल खींचना कहते हैं।

(६) मिलबन बोआई—इसमें दो या तीन अन्न जैसे चना, तीसी या जौ सरसों मिलाकर बोते हैं। सरसों और तीसी जौ या चना की अपेक्षा पहले तैयार हो जाती है। अत: उसके पोधों को उखाड़ कर अलग से दांय लेते हैं।

कटाई व मँड़नी

चैत में खेत जब कटाई के लिए पक जाता था तो वह लाव्य कहलाता था और खेत की कटाई को अभिलाव कहते थे (पृ० २०३)। आज भी एतदर्थ लावा (वाराणसी)। लवनी या लौनी (फ०) कहते हैं। झासी में यह कटनी आजमगढ़ में कटिया तथा इलाहाबाद में कटाई कहलाती है। मराठी में यह कापणी है। खेत काटने के लिए 'दाय' काम में आता था जिसे इस समय दँनारा हँसुआ (आ०) या दरात्त (रा०) कहते हैं। फसल काटने वाले के लिए लावक या लवक (३।१।१४९) शब्द प्रयुक्त होता था जिसे आज भी लावा कहते हैं। आजमगढ़ में इसे कटवैया झांसी में कटैया बिहार में कटनिहार या कटनिया कहते हैं। कटवैया एक बार में जितना काटता है उसे मूठा (आ०) कहते हैं। मूठों को काट-काट कर वह एक जगह एकत्र करता हुआ आगे बढ़ता जाता है—इन कटे हुए छोटे-छोटे ढेरों को लहना (बि० लहनी) और इस प्रकार ढेर लगाने को लेहनियाइब (लेहनियाना) कहते हैं।[1] खेत की कटाई समाप्त होने पर सारे लेहनों को एकत्र कर बोझ बना कर खलिहान में ले जाते हैं। फतेहपुर में इसे लहना, झांसी में डबिया कानपुर में डाबी कहते हैं। लहने के एकत्र समूह को झांसी में लांक और उसे तरतीब से एकत्र करने को सैंका कहते हैं। एक लेहना इतना बड़ा होता है जितना एक बार के अंकवार (अंक+पाल) में आ सकता है क्योंकि अंकवार भर-भर कर ही उसे उठाते हैं और फिर उसका बोझ बनाते हैं। इसे आजमगढ़ में अंकुवार तथा बांदा व कानपुर में कउरी कहते हैं।

कटवैया को मजदूरी में प्रति बीस, पचीस, या तीस लेहनों के पीछ एक लेहना मिलता है, इसप्रकार मजदूरी देने को बीसा, पचीसा या तीसा कहते हैं। बिहार में इस मजदूरी को दिनौरा या गुदारा कहते हैं।

मजदूरी की प्रथा एक अन्य प्रकार की भी है जिसे आजमगढ़ में लवनी कहते हैं।[2] इसके अनुसार कटवैया को कटे हुए बोझों में से नहीं देते वरन् वह अपने लिए एक अच्छा बोझ स्वयं बनाता है—यह साधारण बोझों से बड़ा तो होता ही है उसकी बंधाई भी भिन्न होती है। साधारण बोझ में एक ओर बाल रहती है दूसरी ओर जड़ें क्योंकि खलिहान में इन बोझों को ले जाकर इस प्रकार समकिया कर रखते हैं कि बाल गांज के भीतरी ओर हो; कटवैया अपने बोझ में बालों को भीतर रखता है और दोनों ओर जड़ें निकली रहतीं हैं—इस प्रकार बोझ देखने में तो बड़ा नहीं लगता पर इसमें अनाज अधिक आता

---

१. दे० लेखक की 'ग्रामोद्योग और उनकी शब्दावली,' प्र० राजकमल, दिल्ली पृ० ३३।
२. वही।

है । इस प्रकार बालों को बराबर से बैठा-बैठा कर बांधने को लवनियाइव (लवनियाना) कहते हैं और इस बोझ को लवनी कहते हैं, किसान इस बोझ का कुछ भाग निकाल कर शेष कटवैया को दे देता है । 'लवनी' शब्द का प्रयोग गीतावली में भी हुआ है 'रूपराखि विरची विरंचि मनो, सिला लवनि रतिकाम लही री । (१ । १०४) ।

लेहनों के उठ जाने के बाद खेत में जो बालें पड़ी रह जाती हैं उन्हें झांसी और बांदा में सीला और रामपुर में सिला (स० शिल:) कहते हैं । बिहार में इसे झरंगा या झरुआ तथा इनके बिनने वालों को, जो अत्यन्त गबीब होते हैं, बिनिया या बिननिहार कहते हैं । जौ गेहूं के कटे हुए खेत को रामपुर में नरई कहते हैं ।

खेत से फसल काट कर मड़नी के लिए जहाँ रखी जाती थी उस स्थान को खलघ (५ । १ । ७) और खलिहानों के समूह को खल्या (४ । २ । ५०) या खलिनी कहते थे । रक्षा की दृष्टि से खलिहानों के लिए खेत तब भी आज की भांति पास-पास चुनते थे । ऐसा खेत पड़ती रखा जाता था जिसके लिए खलीकृत संज्ञा थी । अर्थशास्त्र में लिखा है कि जहां तक हो खलिहानों को एक साथ रखना चाहिए (खलस्य प्रकरान् कुर्यान्मण्डलान्ते समाश्रितान् ४ । २ । २४) । खलिहान में जौ की एकत्र रास को 'खलयव' तथा खलिहान में भूसे के ढेर के अलग लग जाने पर उसे 'खलेबुस' कहते थे (पृ० २०३) । ऋगवेद में खल्य को खल (१० । ४८ । ७) कहा गया है । पाणिनि सूत्र ४ । २ । ५०-५१ में भी खल का उल्लेख है । मराठी में खल आज भी खळें के रूप में व्यवहृत होता है, हिन्दी में यह खलिहान (आ०) खळियान (फ०, झां०) खरिहान (बि०) और नैपाली में खलियान है जो खल + धान्यं से विकसित हैं । रामपुर में इसे पैर कहते हैं ।

खलिहान मे गांज (आ०), लांक (झां०), गरौ (रा०) एकत्र होने पर उसकी मंड़नी की जाती है इसके लिए शतपथ में 'मृणान्तः' शब्द आया है । आज भी लखीमपुर तथा फतेहपुर में मंड़नी शब्द प्रचलित है, कानपुर में इसे मांड़ना तथा झांसी में मंड़ाई एवं बांदा में मड़ुई कहते हैं । मराठी में भी यह मळणी है । भोजपुरी क्षेत्र में इसे दांना, दौनी तथा खड़ी बोली में दांय (रा०) कहते हैं ।

सिंचाई

पाणिनिकाल में 'केदार' उस खेत को कहते थे जहां हरी फसल बोई गई हो और जिसमें पानी की सिंचाई होती हो । अर्थशास्त्र में 'केदार' शब्द आर्द्र खेतों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिस खेत में हरी फसल खड़ी हो वह 'केदार' कहा जाता था । वाल्मीकि ने लिखा है, सुग्रीव की वानरी सेना ऐसी सुशोभित थी, जैसे पके शालि के केदारों से पृथ्वी सुहावनी लगती है (यथा कलम केदारैः पक्वैरेव वसुन्धरा) । हरी फसल से लहलहाते खेतों का समूह कैदार्य या "केदारक" कहा जाता था (पृ० १९८) यह शब्द किवारा एवं कियारी रूप में आज भी प्रचलित है, आजमगढ़ में अगहनी या जड़हनी धान के खेत की कियारी तथा जड़हन के खेतों के समूह को कियारा कहते हैं ।[1] 'कैदार' खेत की उपज के

१. दे० लेखक की 'ग्रामोद्योग और उनकी शब्दावली', प्रकाशन—राजकमल दिल्ली पृ० १७८ ।

अतिरिक्त चावल के अर्थ में भी संस्कृत कोषों में आया है; धान की खेती मुख्य होने के कारण कदाचित केवल धान के खेतों के समूह को ही कियारा (आ०) कहा जाने लगा। वाल्मीकि की उक्त उपमा से भी यह बात पुष्ट होती है कि केदार कलप (शालि या जड़हन खेत) के लिए प्रयुक्त होता था। संभव है 'कियारा' का प्रयोग किसी अन्य क्षेत्रों में सभी प्रकार के लहलहाते खेतों के लिए होता हो—यह अब भी गवेषणीय है। शिशुपाल वध (१२, ४२) में भी कैदारं कैदारकं, कैदारिका कैदाये का प्रयोग खेतों के समूह के लिए हुआ है।[1] रामपुर जिले में साधारणतः कार्तिक तक धान कट जाता है, वहाँ धान के खेत को क्यार तथा क्यार में लगाई जाने वाली धान की पौद को क्यारी बोलते हैं ?

संस्कृत 'केदार' एक अन्य अर्थ आलबाल या थाला भी है। गुजराती में क्यारों इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। मराठी में कियारी वह केरा है जिसमें नमक बनाने के लिए पानी एकत्र किया गया हो। हिन्दी में क्यारी या कियारी सिंचाई की सुविधा के लिए बनाए गए छोटे-छोटे घेरों को कहते हैं। मानस में भी 'किआरी' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है—'महावृष्टि चलि फूटि किआरी।'

आजमगढ़ में कियारी ईख के खेत में सिंचाई के लिए बनाए गए घेरों को कहते हैं।[2] बिहार में इसे कियारा, कियारी या केआरी कहते हैं। बुन्देलखंड (झांसी) में इसे किरियां कहते हैं।

कियारी से संबंधित आजमगढ़ में कितने ही वाक्-सम्प्रदाय (मुहाविरे) प्रचलित है[3] यथा कियारी बनाने को कियारी गढ़ब (गढ़ना), कियारी में पानी भरने को कियारी भरव (भरना) या कियारी देव (देना) कहते हैं। हलकी सिंचाई को हलुक या छल-कउआ (छलकने वाली) कियारी तथा जग डुडुही (कियारी की मेड़) बराबर पानी दिया जाता है तब उसे गंभीर कियारी कहते हैं। इस प्रकार की भरपूर सिंचाई को गहि या चभोर के कियारी देब (देना) कहते हैं। एक कियारी से दूसरी कियारी में पानी काटने या ले जाने का जो आदमी काम करता है उसे कियारिहा कहते हैं। पानी को इस प्रकार एक कियारी से दूसरी कियारी अथवा मतजरहा (खेत की मुख्य नाली) से बरहा (सिंचाई की नाली) में ले जाने की क्रिया को पानी बराइब (बराना) कहते हैं—इसी आधार पर पानी बराने वाले को बरवैया (सं० वार्य) कहते हैं। सिंचाई के बाद ईख के खेत की गोड़ाई होती है, इस समय बनी हुई कियारियां बिगाड़ दी जाती हैं जिसे कियारी गिराइब (गिराना) कहते हैं। ईख की खेती में सिंचाई अत्यधिक करनी होती है यथा कहावत है—'तीन कियारी तेरह गोंड़, तव ताका हौदा की ओर' अर्थात् तीन कियारी (तीन बार भरपूर कियारी की सिंचाई) और तेरह बार गोड़ाई के अनन्तर ही ईख में अच्छा गुड़ पड़ेगा। जड़हनी धान के लिए बेहन (पौद) तैयार करनी पड़ती है। इसके लिए बेहन को किसी अच्छे खेत के टुकड़े में जहाँ सिंचाई

---

१. देखो 'संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी'—आप्टे।

२. देखिये लेखक की ग्रामोद्योग और उनकी शब्दावली 'राज कमल प्रकाशन' दिल्ली पृ० १७८

३. वही।

की सुविधा हो वर्षारंभ के पूर्व डालते हैं। बेहन तैयार होने पर उसे अन्यत्र लगाने को रोपने के अतिरिक्त कियारी बैठाइब (बैठाना) भी कहते हैं क्योंकि यह कियारी (जड़हन का खेत) में लगाया जाता है।

व्रज में कियारी के स्थान पर किरिया या क्यारी शब्द प्रचलित है। दो बरहों के बीच में जितनी किरियां बनती हैं वे सामूहिक रूप से किवारा कहलाती हैं।

कियारी शब्द अर्थ विस्तार भी मिलता है। कपड़े या पंखे या पलंग की बुनावट में जब छोटी-छोटी कियारियां बनाई जाती हैं तो इस प्रकार की बुनावट को कियारीदार बुनावट कहते हैं।

संस्कृत में 'वरत्रा' चमड़े की पट्टी या रस्सी के लिए प्रयोग होता था (शिशुपाल-वध ११-४४)। पाणनि ने खंडिकादिगण में (४।२।४५) युगवरत्रा (जुआ और बरत) का एक साथ उल्लेख किया है जो सिंचाई के लिए कुंआ चलाते समय एक साथ काम आती है। यही वारत्र चर्म (५।१।१५) भी होगा। 'वरत्रा' से विकसित बरेस (अवधी), बर्त (ब्रज) तथा बरहा (भोजपुरी) आज भी जनपदीय शब्दावली में प्रयुक्त होते हैं। यह रस्सी आज सिंचाई के समय कुंए से पानी निकालने के काम में आती है, यह अवश्य है कि यह अब चमड़े की न हो कर सन की होती है। आजमगढ़ में ढेंकुल द्वारा सिंचाई के समय बरहा या वरेत[1] में ही कूंड़ (पानी की डोल विषेश) को बाधते है : चरखी द्वारा सिंचाई के समय जो रस्सी प्रयोग में जाती है उसे भी बरहा कहते हैं।

जोताई के बाद पाटा या होंगा से खेत को सम किया जाता है, इस समय होंगा को जुआठ से संबंधित करने के लिए जो रस्सी काम में आती है उसे बरही कहते हैं।[2] इलाहबाद में इसे बरही या बराही कहते हैं। बिहार में इसे बरही या हेंगही कहते हैं।

पाणिनि में चमड़े की दो प्रकार की और रस्सियों का निर्देश है एक नध्री दूसरा वध्र। दोनों प्रकार की रस्सियां अब भी प्रचलित हैं। नध्री का ही विकसित रूप हिन्दी नाघा (एक रस्सी) है जो हल में हरिस (हलीघा) और जुआठ को संबंधित करता है। बैलों को हल से अलग करने के लिए नाघा को जुआठ से खोल देना पड़ता है जिसे नाघा छटकाना कहते हैं। नाघा को बिहार में नांघ, नारन, लारन, लरनी, नरेली तथा हरनाघा कहते हैं। रामपुर तथा झांसी में इसे क्रमशः नघा और नहना कहते हैं। बिहार में जब नाघा चमड़े का होता है तो उसे कहीं-कही पुआली कहते हैं। रामपुर में नघा साधारणतः चमड़े की ही डोरी होती है। नघा को बैलों की ऊँचाई-निचाई अथवा हल को गहराई

---

१. दे० लेखक की 'ग्रामोद्योग और उनकी शब्दावली, प्रकाशन—राजकमल दिल्ली पृ० २३२।
२. वही।

में धँसाने अर्थात् अवाह (रा० अवाया अलीगढ़ करार) तथा सेव (रा० स्या या सेया, अलीगढ़ सेहा से सं० सेध) करने के लिए यथास्थान सुव्यवस्थित करना पड़ता है। इसे गंगा जमुना करना (आ०) कहते हैं। रामपुर में इसे नाड़ा ठीक करना कहते हैं। हिन्दी में नार शब्द मोटे रस्से के लिए आता है।

'वध्र' शब्द का ही विकसित रूप हिन्दी बद्धी है जो एक प्रकार की चमड़े की डोरी है जिससे मृदंग या तबला मढ़ते हैं।

विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

प्रागैतिहासिक युग में तांत्रिक तत्त्व

'तंत्र' शब्द का अर्थ

तंत्र शब्द का सामान्य अर्थ इस प्रकार है :—तन्=विस्तार, तन्यते=विस्तार्यते ज्ञानम् अनेन इति तंत्रम् (काशिका)। जिससे ज्ञान का विस्तार हो, वह तंत्र है। इस अर्थ में ज्ञान की सभी शाखाएँ अंतुर्भुक्त हो जाती हैं। इसीलिए न्यायतंत्र सांख्यतंत्र, चिकित्सातंत्र आदि प्रयोग प्रचलित रहे हैं।[1]

तंत्र के सामान्य अर्थों में एक अर्थ यह है, तन्=विश्वास करना अत: इस व्युत्पत्ति से तंत्र का अर्थ है विश्वास का साधन[2] अत: तंत्र का अर्थ उपासकों के उन पवित्र शास्त्रों से है जिनमें देवी की पूजा की विधियों आदि का वर्णन किया गया है।

इस अर्थ में विश्वास करना इतना अर्थ तो सामान्य अर्थ है परन्तु देवी की पूजा में विश्वास करना; देवी-पूजा सम्बंधित शास्त्रों में विश्वास करना यह तंत्र का विशेष अर्थ है जो सर्व स्वीकृत है।

वाचस्पति, आनन्दगिरि तथा गोविंदनाथ तत्रि या तंत्रि धातु से "व्युपाद"

---

१. Tantra, expanded (literature) which deals elaborately with any department of study either in a theoritical or in a practical manner.
तनोति विपुलानर्थान् तन्त्रमन्त्र समन्वितान्।
त्राणञ्च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते।
(धातु तन्+ष्ट्रन प्रत्यय=तंत्र=विस्तार)
"An intoduction of Tantric Budhism" S. B. Das Gupta, University of Calcutta, Page 1, 2.

२. Tantra:—From the Sanskrit Tan, to believe, to have faith in, hence an instrument or means of faith, is the name of the Sacred works of the worshippers of the female energy.........
(Philosophical Essays—S. . N Das Gupta, Page 152) University of Calcutta.

(Origination) या ज्ञान अर्थ लेते हैं[३]। परन्तु तन् शब्द से विस्तार (Elaboration) अर्थ ही अधिक प्रचलित है।[४]

पिंगलामत तंत्र में तंत्र को आगम कहा गया है और आगम का अर्थ इस प्रकार किया गया है। आगम वे शास्त्र हैं जिनसे सभी सिद्धान्त उत्पन्न हुए हैं और जो शिव के मुख से नि:सृत हैं, ये शास्त्र गुरु शिष्य परम्परा से छन्दोवद्ध रूप में प्रचलित हैं।[५]

पिंगलामत तंत्र की यह परिभाषा तंत्र के विशेष अर्थ की सूचिका है। तंत्र शिव या शक्ति के वार्तालाप के रूप में कहे गए हैं। बौद्ध तंत्रों में भी गौतम बुद्ध व साधकों के वार्तालाप द्वारा तंत्र कहे गए हैं। हिन्दू तंत्रों में सर्वदा शिव या शक्ति ही उपदेश देते दिखाई पड़ते हैं। इन तंत्रों में शक्तिपूजा व शिवपूजा के अतिरिक्त ज्योतिष, रसायन, सृष्टि विज्ञान, योग आदि अनेक विषयों का वर्णन मिलता है। इसीलिए तंत्र का सामान्य अर्थ 'ज्ञान का विस्तार' किया जाता है। परन्तु तंत्र शब्द के विशेष अर्थ में वेदों से भिन्न उस शास्त्र का अर्थ लिया जाता है जिसमें शक्ति (धनात्मक, ऋणात्मक अथवा पुरुष व स्त्री शक्ति) पूजा का वर्णन हो। इसमें पुरुष शक्ति व स्त्री शक्ति की एकता के द्वारा सिद्धि व मुक्ति प्राप्त करने की विधि वर्णित है। और सिद्धि (मुक्ति) व मुक्ति प्राप्ति का एकमात्र उपाय स्त्री शक्ति व पुरुष शक्ति की एकता है।[६] इस एकता के लिए तंत्रों में योग, उपासना, चक्र, मंत्रादि का वर्णन किया गया है। इस सब साधनाओं का उद्देश्य शिव-शक्ति की एकता ही है। यह तंत्र शब्द का विशेष अर्थ है। इसविशेष अर्थ में ज्योतिष, रसायन आदि बाहरी बातों को छोड़ दिया जाता है और तब तंत्र शब्द से हम उन सिद्धान्तों तथा क्रियाओं का अर्थ लेते हैं जो शक्ति स्फुरण में सहायक होती हैं। इस प्रकार तंत्र शब्द से उसका शिव-शक्ति (पुरुष शक्ति, स्त्री शक्ति) विषयक दर्शन, प्राणयोग, हठयोग, चक्रपूजा, मंत्रयोग, प्रार्थना, पूजा आदि व्यावहारिक पक्ष भी आ जाता है।

तंत्र अपने इस सीमित अर्थ में देवता के स्वरूप, गुण कर्म आदि का वर्णन करता है। देवता विषयक मंत्रों का उद्धार करता है। यंत्रों का विधान करता है। उपासना के पांचों अंग—पटल, पद्धति, कवच, सहस्रनाम और स्तोत्र की व्यवस्था करता है।[७]

---

३. वही—पृष्ठ १५२।

४. तन्मया तन्त्र्यते तन्त्रा लोकनाम्न्यत्र शासने—तंत्रालोक—प्रथम आह्निक—पृष्ठ २५८।

५. पिंगलामत तंत्र के लिए द्रष्टव्य—
(Palm Leaf Selected Paper MSS, belonging to Darbar Library, Nepal, by Hari Prasad Sastri, Vol. II, Preface, Page XXII.

६. It (तंत्र) really means the worship of Shakti or female energy. The female energy is worshipped in conjunction with male energy. The union of male and female energy is the essence of tantra.
(Introduction to Modern Buddhism, Page 10)

७. बौद्धदर्शन मीमांसा—पं० बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ ४१७।
बनारस—सच्चिद् ग्रंथमाला-नवम् पुष्प, प्रथम संस्करण १९४६।

वाराही तंत्र में तंत्र के सात लक्षण कहे गए हैं, सृष्टि, प्रलय, देवतार्चन, सर्वसाधन, पुरश्चरण, षट्कर्मसाधन (शांति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन, मारण) तथा ध्यान योग।[८]

धर्म के विश्वकोश में तंत्र शब्द के अर्थ का विकास भी समझाया गया है। तंत्र का प्रथम अर्थ बुनना था। पुन: उसका अर्थ निरन्तर रूप से होने वाली धार्मिक क्रिया हुआ। तत्पश्चात् तंत्र शब्द सिद्धान्तविशेष के लिए प्रयुक्त होने लगा तथा अंतिम रूप में तंत्र शब्द उन शास्त्रों के अर्थ में प्रचलित हो गया जिनमें तांत्रिक सिद्धान्तों का वर्णन होता था।[९] इस विश्वकोश के अनुसार अमरकोश में सिद्धान्त के अर्थ में तंत्र का अर्थ नहीं मिलता। चीनी परम्परा व महाभारत में भी सिद्धान्त के अर्थ में तंत्र का प्रयोग नहीं मिलता।

जगदीश तर्कालंकार ने अपनी शब्दशक्ति प्रकाशिका में तंत्र शब्द का अर्थ 'तर्क-विज्ञान' (Science of argument) किया है। परन्तु यह अर्थ स्वीकृत नहीं है। अन्य ऐसे ही अर्थों में पंचतंत्र का अर्थ है। पंचतंत्र में तंत्र का अर्थ अध्याय है। कालिदास ने तंत्र का अर्थ प्रबंध किया है। परन्तु ये अर्थ तंत्र शास्त्र से सम्बंधित न होकर केवल तंत्र शब्द से सम्बंधित हैं। कात्यायन ने तंत्र का अर्थ "व्यवस्थित धार्मिक क्रिया" किया है जो तंत्र के स्वीकृत अर्थ के निकट है क्योंकि तंत्र शास्त्रों में साधना के व्यावहारिक पक्ष पर बल अधिक दिया गया है, सैद्धान्तिक पक्ष पर कम। चिंतामणि भट्टाचार्य के अनुसार तंत्र से अभिप्राय उस शास्त्र समूह से है जिसे शिव जी ने पार्वती के सम्मुख प्रकट किया था। क्योंकि कलियुग में वेद मंत्र कुंठित हो जाते हैं, यज्ञ याग का अवसर नहीं मिलता है अत: एक नवीन शास्त्र की आवश्यकता समझ कर भुक्ति व मुक्ति दोनों की सरलता के साथ प्राप्ति कराने के लिए तंत्रों को प्रकट किया गया। शिव के मुख से आने से तंत्र को आगम (आगच्छतीति आगम:) कहा जाता है। अथवा जिन शास्त्रों ने शिव के मुख से निकल कर गिरजा के प्रति गमन किया तथा जिन्हें वासुदेव (विष्णु) ने स्वीकार कर लिया उन्हें आगम कहते हैं। अथवा इन्हें निगम भी कहा जा सकता है क्योंकि शिव के श्रवण के लिए ये शास्त्र गिरजा के मुख से निकले (निगच्छतीति निगम:)।[१०] इस प्रकार शिव के मुख से प्रकाशित तंत्रों को आगम तथा गिरजा के मुख

---

८. सृष्टिश्च प्रलयश्चैव, देवतानां यथार्चनम्।
साधनं चैव सर्वेषां, पुरुश्चरणमेव च
षट्कर्मसाधनं चव, ध्यान योगश्चतुर्विधि:
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद्विदुर्बुधा:

—वही, पृष्ठ ४१८।

९. Tantra=Web or warp, then a continuous or uninterrupted series in religious usage, an orderly rule or trial. The word was then further applied to the doctrinal theory or system it self, and finally to the literary or teatises in which it was set forth.

१०. मातृकाभेदतंत्रम्—सम्पादक चिंतामणि भट्टाचार्य, भूमिका,
ए० के० दास, प्रकाशित, मेट्रोपोलिटन प्रिंटिंग हाउस, कलकत्ता, १९३३।

से प्रकाशित तंत्रों को निगम कहा गया है। परन्तु यह भेद प्रचलित नहीं हो सका। शिव व गिरजा दोनों के मुख से निःसृत शास्त्रों को तंत्र या आगम कहा जाता है।[११]

अभिनवगुप्त ने तंत्रालोक के ३५ वें आह्निक में आगम का लक्षण किया है। उनके अनुसार आगम 'पुरातन व्यवहार' है अर्थात् प्रसिद्धि-प्राप्त शास्त्र ही आगम है। प्रसिद्धि यह है कि भोग व अपवर्ग के लिए भैरव शिव ने जिस विद्या का प्रकाश किया है, और इस परामेश्वरी विद्या का जिन शास्त्रों में वर्णन मिलता है, वे शास्त्र 'आगम' हैं, शिव से आगत होने के कारण ही वे आगम कहलाते हैं अतः यह प्रसिद्धि ही 'आगम' का मुख्य लक्षण है, इसी प्रकार जिन जिन शास्त्रों के सम्बन्ध में यह प्रसिद्धि हो कि गुरु शिष्य परम्परा से वे शास्त्र शिव से प्रकाशित होकर प्रचलित हैं, वे सब शास्त्र आगम हैं, यही प्रसिद्धि ही इन आगमों का प्रामाण्य है।

अथोच्यते समस्तानां, शास्त्राणामिह मेलनं ।
इहावत्समस्तोऽयं, व्यवहारः पुरातनः ।
प्रसिद्धिमनुसन्धाय, सैव आगम उच्यते ।[१२]

आगमों में गुरु शिष्य-परम्परा तथा साक्षात् कृत अनुभव को ही प्रमाण माना गया है। श्रुति का प्रामाण्य यहाँ सर्वत्र नहीं मिलता। अभिनवगुप्त के मतानुसार यदि श्रुति में इन आगमों का प्रामाण्य नहीं मिलता तो इसका अर्थ यह नहीं कि ये आगम शास्त्र अप्रामाणिक हैं, क्योंकि प्रमाण के अभाव में प्रमेय का अभाव नहीं माना जा सकता। अनिन्दनीय शास्त्र होने से व आप्त वाक्य होने से ये आगम प्रामाणिक हैं।[१३]

इस प्रकार शिव व शक्ति के संघट्ट (यामल) के लिए नाना साधनाओं को जिन शास्त्रों में वर्णित किया गया है, वे ही आगम या तंत्र शास्त्र हैं। पुरुष शक्ति की प्रधानता से शैव तंत्र व स्त्री शक्ति की प्रधानता से ये शाक्ततंत्र कहलाते हैं। बौद्ध तंत्रों में भी पुरुष शक्ति व स्त्री शक्ति की एकता ही प्रतिपादित है। पांचरात्रों में भी पुरुष शक्ति के साथ शक्ति की प्रतिष्ठा का विधान है अतः शैव, शाक्त, पांचरात्र व बौद्धतंत्र ये सब तंत्र कहलाते हैं। शैव तंत्रों व शाक्त तंत्रों को आगम भी कहा जाता है।

यद्यपि हिन्दू (शैव, शाक्त, पांचरात्र) व बौद्ध तंत्रों में वर्णित शक्ति साधना की विधियों में अन्तर प्रतीत होता है परन्तु तंत्र के मूल अर्थात् पुरुष शक्ति व स्त्री शक्ति

---

११. It denotes the body of religious Scriptures (Shastra) which is stated to have been revealed by Shiva, as the specific Scripture of the fourth or present Kali Age (Yuga). This is the definition of thc tantra according to Shastra it self.
(Principles of Tantra, page 41, edited by B. Arthur Avalon, Published—Ganesh and Co., Madras, 1952.

१२. तंत्रालोक—काश्मीर संस्कृत सीरीज, ३५ आह्निक, पृष्ठ ३५६— (श्रीनगर)

१३ अविगीतैव हि प्रसिद्धिरागमः (तंत्रालोक—प्रथम आह्निक, पृष्ठ ४६)

की एकता में कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। तंत्रों के विश्वास के अनुसार अद्वैत चिन्मय सत्ता में ही प्रवृत्ति व निवृत्ति—पुरुष शक्ति व स्त्री शक्ति के भेद हो जाते हैं, जिनकी एकता से पुनः अद्वय चिन्मय सत्ता की प्राप्ति सम्भव हो सकती है। हिन्दू तंत्रों में शिव व शक्ति तथा बौद्धतंत्रों में उपाय व प्रज्ञा पुरुष शक्ति व स्त्री शक्ति के नाम हैं अतः तंत्र अपने मूल अर्थ में एक और अविभाज्य है। अनेक सम्प्रदायों को, तंत्र के मूल अर्थ में नहीं, विस्तार व विधि के भेद ही समझे जाने चाहिए।[१४]

'तंत्र' का अर्थ स्पष्ट कर लेने के पश्चात् अब यह देखना चाहिए कि शिव शक्ति की एकता के लिए जिन सिद्धान्तों व साधनाओं का वर्णन आगमों में मिलता है, उनका विकास किस प्रकार हुआ है। तंत्रों में अनेक वेद विरोधी क्रियाओं का वर्णन मिलता है और इन क्रियाओं को तंत्रों में प्रामाणिक माना गया है। अतः तंत्रों के विकास पर विचार करते समय प्रथम प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ये साधनाएँ अवश्य वेदों के अतिरिक्त किसी अन्य स्रोत से आई हैं। विद्वानों का विचार है कि तंत्रों में प्राग्वैदिक युगों में प्रचलित जनता के विश्वासों को स्वीकार कर लिया गया है। तंत्रों में इस प्रकार की चर्चा मिलती है कि तंत्रों का प्रचार पहले भारत के बाहर के देशों में था, धीरे-धीरे इस साधना का प्रचार भारत में हुआ। कुब्जिका तंत्र में कहा गया है कि तंत्र के प्रचार के लिए भारत देश में जाना चाहिए।[१५] सम्मोहन तंत्र में कहा गया है कि माहेश्वर ने ब्रह्मा से कहा कि महानील सरस्वती के विषय में सुनो। उसी की शक्ति से तुम वेद पढ़ते हो। चोल नामक झील मेरु के पश्चिम में है। नीलोग्रतारा वहीं उत्पन्न हुई। मेरे ऊर्ध्व नेत्र का प्रकाश उस चोल झील में गिरा अतः उसका पानी नीला हो गया। मेरु के उत्तर में अक्षोभ मुनि का निवास है, वे ही साक्षात् शिव हैं। उन्होंने प्रथम इस देवी नील सरस्वती की साधना की थी, यह देवी प्रलय के समय चीन देश में अवतरित हुई।[१६] इस कथा से भी तंत्रों का मूल निवासस्थान भारत से बाह्य देशों में प्रतीत होता है।

प्रागैतिहासिक युग में तंत्र साधना का रूप

पूर्व वैदिक धर्म का इतिहास तांत्रिक साधना के विकास पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। इस सम्बंध में मिस्र, सुमेर तथा पश्चिमी एसिया के प्राचीन धर्मों में तांत्रिक साधना का प्रथम रूप दिखाई पड़ता है। कालक्रमानुसार ६००० वर्ष ईसा पूर्व में मिस्र में धर्म का प्रथम रूप इतिहास द्वारा खोजा गया है। इसके पश्चात् सुमेर जाति के धर्म पर इतिहास प्रकाश डालता है जिसका प्रारम्भ ५००० ईसा पूर्व से माना जाता है। पश्चिमी एशिया व क्रीट आदि द्वीपों का इतिहास भी अत्यधिक प्राचीन है। इन धर्मों के अध्ययन

---

१४. An introduction to Tantric Buddhism—page 3.
S. B. Das Gupta, Published—University of Calcutta.

१५. गच्छे त्वं भारतेवर्षे अधिकाराय च सर्वतः—कुब्जिकातंत्र--
Catalogue of Darbar Library, H. P. Sastri, Page 59

१६. On some tantric texts studied in Ancient Kamboj, Part I,
P. C. Bagchi, Calcutta University

से स्पष्ट होता है कि मनुष्य ने प्रारम्भ से ही सत्ता को दो रूपों में कल्पित किया है १ देवी रूप मे २ देवता रूप में। प्रारम्भ में अनेक देवी देवताओं की पूजा मिलती है और धीरे धीरे उनमें एक देवता प्रधान हो जाता है या सभी देवता एक ही शक्ति के विभिन्न स्वरूप मान लिए जाते हैं। इनमें प्रथम पद्धति ग्रीक में व दूसरी पद्धति भारतवर्ष में दिखाई पड़ती है। जिसे हम सर्ववाद (Pantheism) कहते हैं, वह अवस्था तब आती है जब देवी-देवताओं की संख्या पर्याप्त रूप से बढ़ जाती है। भारतवर्ष में बहुदेववाद प्रथम व सर्ववाद बाद में विकसित हुआ है परन्तु परम्परा इस क्रम को स्वीकार नहीं करती और यह कहा जाता है कि भारत में बहुदेववाद व सर्ववाद साथ ही साथ मिलते हैं क्योंकि देवता एक ही सत्ता के विभिन्न रूप हैं और विभिन्न रूपों की उपासना द्वारा वैदिक आर्य लोग एक ही अरूप, सूक्ष्म सत्ता का साक्षात्कार किया करते थे। इस व्याख्या को यदि स्वीकार कर लिया जाय तो भी भारत का वैदिक युग मिस्र व सुमेरु सभ्यताओं से बाद का ही मानना पड़ता है क्योंकि मिस्र सुमेरु व पश्चिमी एसिया के धर्मों में बहुदेववाद व सर्ववाद साथ साथ नहीं मिलते, प्रथम बहुदेववाद दिखाई पड़ता है और कालान्तर में सर्ववाद की कल्पना होती है। अतः मिस्र, सुमेरु व पश्चिमी एशिया में प्राप्त बहुदेववाद वैदिक युग से पूर्व का है, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है, केवल इतिहास के प्रमाणों से ही उक्तमत प्रमाणित नहीं होता, वैदिक धर्म व पश्चिमी एशिया के धर्मों की तुलना से भी यह स्पष्ट होजाता है।[१७] अतः ऋग्वेद के पूर्व के युग के लिए हम 'प्रागैतिहासिक युग' शब्द का प्रयोग करेंगे।

प्रागैतिहासिक युग में सर्व प्रथम मिस्र देश में धर्म का इतिहास मिलता है। मिस्र में अनेक देवी, देवताओं की उपासना होती थी। इनमें रा, हो रस, ओसिरस, आइसिस, त्मु, अमेन व सेत उल्लेखनीय हैं। सम्भवतः ये देव भिन्न-भिन्न जनपदों या जातियों के देवता थे और बाद में उनकी व्यावस्था न हो सकी और सभी की उपासना चलती रही।[१८]

कालान्तर में जब निरंकुश शासन की स्थापना मिस्र में हुई तब अनेक देवताओं में एक देव को प्रधान मानने की प्रवृत्ति प्रचलित हुई किन्तु जिस प्रकार निरंकुश शासकों में परिवर्तन होता रहता है, वैसे ही मिस्र में कई देवों को प्रधान माना गया है। इस तथ्य से स्पष्ट है कि देवों की कल्पना पर बाह्य परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा है।[१९] इन प्रधान देवताओं में "रा" सर्वश्रेष्ठ देवता है। "होरस" (सूर्य) को भी प्रधान कहा गया है।

इन देवताओं के साथ मिस्र में 'आइसिस' नामक देवी की उपासना का प्रचार अधिक था। ग्रीक में इसी देवी का रूप इओ (io) में परिवर्तित हो गया है। बलि प्रथा का भी प्रचार था। बैल व बकरे की बलि देकर इन देवी-देवताओं को प्रसन्न किया जाता था। आइसिस देवी के लिए मादा पशुओं में गाय की बलि निषिद्ध थी और गाय, बैल, बकरा आदि बलि पशुओं का महान आदर किया जाता था, विशेषकर आइसिस की प्रसन्नता प्राप्ति के लिए गाय का आदर महान था। बलि पशुओं के आधार पर देवी

---

१७. Historian's History of the world—London—1907

१८. वही—Vol. I, Page 219-220

१९. Historian's History of the world—Vol .I 'Page—219—224

देवताओं के रूप भी आविष्कृत हुए। ओसिरस नामक देव साँड़ के आकार का है। जितने भी पशु हैं वे सब देवता हैं। अतः अर्द्ध मनुष्य और अर्द्ध पशु के रूप में देवों की मूर्तियां मन्दिर में स्थापित कर पशुओं की बलि दी जाती थी।

धर्म के इतिहास में मिस्र के इस धर्म का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है इससे स्पष्ट है कि देवी व देवताओं की उपासना साथ साथ मिलती है, बहुदेववाद, एकेश्वरवाद से प्राचीन है और बलिप्रथा प्रागैतिहासिक है। सिद्धान्तों की दृष्टि से मिस्र में आत्मा की अमरता व कर्म-सिद्धांत ऋग्वेद से पूर्व ही आविष्कृत हो चुके थे।[20] यद्यपि ये सिद्धांत अभी अस्पष्ट रूप में थे। जिस जादू का प्रयोग अथर्ववेद में इतना अधिक दिखाई पड़ता है, वह मिस्र के इस प्राचीन धर्म में बराबर मिलता है तथा सर्प पूजा के भी उल्लेख मिलते हैं।

सुमेर बेबीलोनिया तथा अक्कद्

बेबीलोनिया का इतिहास ५००० ई० पूर्व तक जाता है। सारगन प्रथम (३८०० ई० पूर्व) के पूर्व असीरिया जो बेबीलोनिया का ही एक भाग था, इश्तर देवी की पूजा के लिए प्रसिद्ध था। स्वयं बेबीलोन में बाल जेबल (Baal-Gebal या lady of Byblus) की पूजा प्रचलित थी[21] ये दोनों देवियाँ मिस्र की आइसिस के समान आदृत थीं। बेबीलोनिया में सारगन प्रथम के पश्चात् धार्मिक रूप स्पष्ट होता गया। अनेक देवों में एक देव को प्रधान माना गया क्योंकि सार्गन जैसे सर्वशक्तिमान निरंकुश शासक के आधार पर एक ही देव को प्रधान मानने की कल्पना को बल मिलना स्वाभाविक था। Nineveh नामक प्रदेश में इलू ilu नामक देव सर्वश्रेष्ठ देव माना जाता था।[22] इलू या अन (Ana) के अतिरिक्त बाल व अनु दो और श्रेष्ठ देव थे। ये तीन सब देवों में प्रधान थे। इस प्रकार भारतीय ब्रह्मा, विष्णु, शिव के त्रैत के बहुत पहले बेबीलोनिया में शक्तित्रय की कल्पना हो चुकी थी। इलू, बाल व अनु के अतिरिक्त प्रकृति के रूपों को भी देवता संज्ञा बेबीलोनिया में मिल चुकी थी। सिन चन्द्रदेव था,

---

२०. वही—

२१. Historian's History of the world—Vol. I, Page 309-10-11-12

२२. वही-पृष्ठ ५१७—प्रो० ह्राजनी ने इनके नाम अन (Ana या A num) इन्लिल या इल्लिल (Enlil या Ellil) तथा इय (Ea) दिये हैं। अनु आकाश देव था। उसकी शक्ति अंतम (Antum) थी। इन्लिल पृथिवी का देवता था, उसकी शक्ति निन्लिल (Ninlil) थी। इय जल, बुद्धि, शकुन, भविष्यवाणी का देवता था, उसकी शक्ति दमकिन (Damkin) थी। दूसरा शक्तित्रय सूर्य, चन्द्र व वीनस के रूप में स्वीकृत था। सुमेरियन सूर्यदेव उतु (Utu) या बब्बर (Babbar) था, अक्कादियन सूर्यदेव शमश था। सुमेरियन चन्द्रदेव सिन (Sin) था और वीनस इश्तर देवी थी जो यौन-पूजा की प्रतीक थी।

(द्रष्टव्य—Ancient History of western Agra, India, Crete—Section:—Sumer-Akkadian civilization, by prof. Hrozny-Newyork)

शमश (Shamash) सूर्य, बिन (Bin) अंतरिक्ष का देवता था जो भारतीय देव इन्द्र से मिलता जुलता है । परन्तु इनमें 'इश्तर' देवी सर्वप्रधान थी । प्रत्येक देव के साथ एक एक शक्ति रहती थी और सब शक्तियों में 'इश्तर' प्रधान थी । 'इश्तर' के अतिरिक्त अन्य शक्तियों का कार्य स्पष्ट रूप से नहीं मिलता ।[२३] जरपनित (Zarpanit) उपजाऊ शक्ति की देवी स्वीकृत की गई है । तसमित (Tasmit) बुद्धि की देवी है ।

प्रमुख देव व उनकी शक्तियों से ही अन्य छोटे देव उत्पन्न हुए हैं[२४] उसी प्रकार जिस प्रकार शिव व पार्वती से स्वामि कार्तिकेय, गणेश आदि उत्पन्न हुए हैं । अनुदेव के बारह पुत्र थे ।

इन देवों की प्रसन्नता मंत्रों से प्राप्त होती हैं । अनेक मंत्रों द्वारा, बलि पूजा से देव सिद्ध हो सकते हैं । बलि में मेढ़े की बलि मुख्य है । मिस्र की तरह बेबीलोनिया में भी स्थानीय देवताओं की पूजा का प्रचार था । अनु की पूजा Erech प्रदेश में, Bel की निप्पर Nipper प्रदेश में, Ea की पूजा Eridu प्रदेश में, सिन की पूजा उर (Ur) प्रदेश में तथा शमश की पूजा सिपर तथा लारसा प्रदेश में होती थी[२५] । जब ये सारे प्रदेश एक शासक के अंतर्गत आगए तब'मर्दुक' नामक देव इन देवों का प्रमुख शासक मान लिया गया ।

प्राकृतिक घटनाओं को देखकर बेबीलोनिया में देवताओं के कार्यों की कल्पना की गई है । मार्दुक (सूर्य) तियामत (Tiamat) (जल राक्षसी) राक्षसी को पराजित करता है । यह कल्पना वैदिक इन्द्र से सादृश्य रखती है जिसमें इन्द्र वृत्रासुर को मारकर जलों का उद्धार करता है ।

सृष्टि के पूर्व में अप्सु व तियामत विद्यमान थे । इन्हीं से देव उत्पन्न हुए । तियामत देवपुत्रों से घृणा करती थी अतः तियामत ने राक्षसों को उत्पन्न किया और किंगु (Kingu) नामक पुत्र को सेनापति बनाया । तियामत सर्प पहनती थी और रक्त व विष से उसका शरीर वेष्टित रहता था । इसके नाश के लिए देवपुत्रों ने मार्दुक को सेनापति चुना और मार्दुक ने तियामत को मार डाला ।[२६]

अथर्ववेद की यह कल्पना कि रोग को राक्षस लाते हैं, बेबीलोनिया में मिलती है । रोग के लाने वाले राक्षस हैं । जादू व प्रार्थनाओं से देवता शांत हो जाते है ।[२७]

यक्षों व यक्षपत्नियों की भारतीय कल्पना यह है कि ये अत्यधिक कामी होते थे और यक्षणियाँ सुन्दर युवा पुरुषों को काम-तृप्ति के लिए पकड़ ले जाती थीं । बेबीलोनियाँ

२३. वही—पृष्ठ ५१८ ।
२४. वही—पृष्ठ ५१८ ।
२५. वही—पृष्ठ ५२१ ।
२६. Historion's History of the World, Vol. I, page 523.
२७ वही—पृष्ठ ५२३ ।

की इश्तर देवी भी यही कार्य करती हुई दिखाई गई है। वह युवकों से अपनी कामतृप्ति कराके उन्हें छोड़ देती थी।[२८]

इस प्रकार बेबीलोनियाँ में प्रथम अनेक देवों व राक्षसों की कल्पना है, जिन्हें जादू, मंत्रों, प्रार्थनाओं से वश में किया जा सकता है। इसके पश्चात् स्थानीय देवताओं का प्रभुत्व दिखाई पड़ती है और तत्पश्चात् व्यवस्थित देव-राज्य प्राप्त होता है जिसमें एक देवता प्रधान है और अन्य उसके ही अधीनता में रहते हैं, यहीं हमें सर्ववाद के दर्शन होते हैं जहाँ एक ही सत्ता विभिन्न रूपों में प्रकट होती है।[२९]

इस 'देवराज्य' की कल्पना बाह्य शासन प्रबन्ध को देखकर की गई है। प्रत्येक राजा एक देवता का प्रतिनिधि है जो देवता की ओर से पृथ्वी पर शासन करता है। देवता की इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य सम्भव नहीं है। अतः राजा का शासन देवता का शासन है। चूंकि राजा देवता का प्रतिनिधि है, अतः उस देवता की पूजा, उसके मंदिर तथा उसके यज्ञ, बलि आदि का उत्तरदायित्व राजा पर है। अतः यदि राजा प्रबल है, तो स्पष्ट है कि उसका देवता प्रबल है।[३०]

पिण्ड-ब्रह्माण्ड की कल्पना

सुमेर अक्कादियन धर्म की एक प्रमुख विशेषता है पिण्ड में ब्रह्माण्ड की कल्पना जो तंत्रों में विशेष रूप में विकसित हुई है। हम यह सिद्ध नहीं कर सकते कि यह कल्पना सुमेर से ही भारत में आई परन्तु वैदिक युग के पूर्व ऐसी कल्पनाएँ प्रचलित हो चुकी थीं और सुमेरु-सभ्यता, सिंधु सभ्यता से सम्बंधित थी अतः अथर्ववेद के ऋषियों ने पिण्ड-ब्रह्माण्ड कल्पना को अन्य जादू, मंत्र, बलि आदि के साथ साथ स्वीकार किया है, यह स्पष्टतः देखा जा सकता है। सुमेरियन विश्वास के अनुसार पृथ्वी पर काल की क्रीड़ा स्वर्गीय घटनाओं का प्रतिबिम्ब मात्र है। आकाश एक पुस्तक के समान है जिससे जगत् के भाग्य का व व्यक्ति के भविष्य का पता चल सकता है। शरीर में यकृत ही बुद्धि का क्षेत्र है, जब पशु की बलि दी जाती है, तब पशु के यकृत में देवता के विचार आ जाते हैं अतः साधक पशु के यकृत द्वारा सारे रहस्यमय विचारों को बता सकता है।[३१]

बेबीलोनिया में साधक व देवता के बीच गुरु का महात्म्य वैसा ही था जैसा वैदिक युग में तथा उसके पश्चात् विभिन्न सम्प्रदायों में मिलता है। पुरोहित यजमान व देवता के बीच मध्यस्थ होता है। पुरोहित दो प्रकार के थे। प्रथम—स्वयं शासक

---

२८. वही—पृष्ठ ५३२।

२९. वही—पृष्ठ ५३२।

३०. Ancient History of Western Asia, India, Crete—page 89.
Prof. Bedrich Hrozeny

३१. The Sumer-Akkadian "World-View" was based on the idea of a Macrocosmos and a microcosmos. All That time came to pass on earth was but a reflection of heavenly events. Ibid, Page 89

ही पुरोहित भी होता था और द्वितीय—अन्य लोग जो शकुन-विचारक, भविष्य वक्ता, तथा स्वप्न-विचारक होते थे। इश्तर देवी की उपासना में स्त्रियाँ अधिक भाग लेती थीं, उसी प्रकार जिस प्रकार आज भारतवर्ष में देवी उपासना में स्त्रियाँ अधिकभाग लेती हैं। इश्तर देवी यौन पूजा की देवी थी अतः वेश्यावृत्ति की उत्पत्ति भी इसी देवी की उपासना से प्रारम्भ हुई।[३२]

देवी देवताओं को जादू व मंत्रों से वश में किया जाता था, उसी प्रकार जिस प्रकार वैदिक युग में और विशेष कर अथर्ववेद में मंत्रों द्वारा नाना क्रियाओं से देव, राक्षसों को वश में किया जाता था। राक्षस या प्रेत-ग्रस्त व्यक्ति के शरीर से जादूगर (पुरोहित) मंत्रों द्वारा राक्षसों व प्रेतों को भगा देते थे। इन प्रयोगों में अनेक रहस्य-मय क्रियाएँ की जाती थीं। जादू के बीजों को मिट्टी के टुकड़ों पर लिखा जाता था। रोगों को भगाने के लिए भी मंत्रों का प्रयोग होता था। दाँतों में पीड़ा एक दुष्ट कीड़ा उत्पन्न कर देता है, उसे हटाने के लिए मंत्रों का प्रयोग आवश्यक है, ऐसा बेबीलोनिया में विश्वास था। भूतों को भगाने के लिए दुर्गंधि पूर्ण जड़ी बूटियों का प्रयोग किया जाता था जिससे प्रेतादि भाग जाते थे। आज भी प्रेतादि को भगाने में ऐसी औषधियों का प्रयोग होता है।[३३]

मृत्यु के पश्चात् सुमेरियन लोग शव के साथ आत्मा को भूमि में बन्द कर देते थे और आत्मा का दूसरा भाग उनके विश्वास के अनुसार पाताल में उड़ जाता था जहाँ से कोई लौट कर नहीं आता।

हत्ती भाषा के धार्मिक स्तोत्र

हत्ती या हिट्टायट भाषा जो कि भारोपीय परिवार की भाषा माना जाती है और जिसका समय १६०० ई० पूर्व स्वीकृत किया गया है, प्रागैतिहासिक धर्म-साधना पर मिस्र व सुमेर सभ्यता की ही तरह प्रकाश डालती है। हत्ती भाषा में स्तोत्र, प्रार्थनाएँ पर्याप्त संख्या में मिलती हैं। हत्ती लोग यज्ञों में इनका प्रयोग करते थे। जो भाषा हिट्टायट के नाम से कही जाती है उसके विकास के दो सोपान हैं (१) १६०० ई० पूर्व के पूर्व की हिट्टायट भाषा (२) १६०० ई० पूर्व में प्रयुक्त भाषा। जो प्रार्थनाएँ आज मिलती हैं वे द्वितीय सोपान में आती हैं, वस्तुतः प्रथम हिट्टायट से उनका अनुवाद हुआ है अतः जब हम यह कहते हैं कि हत्ती लोग इंडो-यूरोपियन भाषा बोलते थे तब हमारा तात्पर्य द्वितीय हत्ती भाषा से होता है। परन्तु १६०० ई० पूर्व के बहुत पूर्व इन प्रार्थनाओं का निर्माण हो चुका था।[३४] इन प्रार्थनाओं के द्वारा विभिन्न देवताओं को प्रसन्न किया जाता था जिस प्रकार सुमेरु में।

तंत्रों में यौन-तृप्ति के लिए कोई विधि निषेध नहीं था, यह प्रसिद्ध है। विकसित समाज के लोक-व्यवहार में यह सम्भव न था अतः साधना में उसे स्वीकार

---

३२. वही—सुमेर-अक्कादियन सभ्यता—पृष्ठ ८६ से प्रारम्भ।

३३. वही—पृष्ठ ६३-६४।

३४. Ancient History of Western Asia, India and Crete—
(Section—Hatti or Hittite People) B. Hrozeny—

किया गया था । यह भी वस्तुत: प्रागैतिहासिक युगों में प्रचलित यौन-स्वातंत्र्य की स्वीकृति थी । काम-तृप्ति के सम्बन्ध में समाज के नियम प्रागैतिहासिक युग में कठोर नहीं थे । हत्ती समाज में पति के मरने पर पिता को विधवा से विवाह करना पड़ता था । और पिता के अभाव में पति के भाई को विवाह करना पड़ता था, चाहे भले ही वह विवाहित हो ।[३५] इस प्रकार के नियम यह संकेत करते हैं कि विवाह समाज की आवश्यकता को ध्यान में रखकर किए जाते थे, और सतीत्व जैसी वस्तु तब दृढ़ता से स्थापित न हो पाई थी । यही कारण है कि आदिम विश्वासों को स्वीकार करने वाले तांत्रिकों ने अपनी साधना में आगे चलकर विधि-निषेध का विरोध कर पुन: आदिम संस्कारों का पुनरावर्तन करना चाहा था परन्तु विकसित समाज में वह सम्भव न हो सका और तब केवल साधना में उसका रूप प्रयुक्त होता रहा ।

पूर्व-वैदिक धर्म-साधना में तांत्रिक तत्त्व

पूर्व वैदिक धर्म-साधना का रूप सिन्धु सभ्यता की नई खोजों से स्पष्ट होता है । यही पूर्व भारतीय संस्कृति या Proto-Indian culture कहलाती है । इसका समय स्थूल रूप में २४००-२१०० ई० पूर्व माना जाता है । यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस युग में शक्ति-उपासना उसी प्रकार प्रचलित थी जिस प्रकार मिस्र में आइसिस व सुमेर-बेबीलीनिया में इश्तर की पूजा प्रचलित थी । यही नहीं, प्रो० ह्राजनी के प्रयत्न से शक्ति व शिव की उपासना का निश्चित रूप सिंधु-घाटी में मिलता है । मार्शल द्वारा प्राप्त सीलों (मुद्राओं) पर जो लिपि मिलती है, उसे पढ़ने का प्रयत्न हुआ है और इस प्रयत्न से तांत्रिक साधना के प्राग्वैदिक कालीन रूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । सील नं० ८९ में 'नाट्य' शब्द मिलता है ।[३६] नट का सम्बन्ध 'नटराज' से है । यह नटराज शिव है जिसकी उपासना वैदिक युग के बाद बहु प्रचलित है । 'वात्य' शब्द भी सिन्धु-लिपि में प्राप्त है जिसका अर्थ है दिव्य पक्षी या ऋषि (दिव्य द्रष्टा) । सिंधु-भाषा भारोपीय परिवार की ही भाषा है और हत्तीभाषा से सम्बंधित है ।

वैदिक संस्कृत भाषा-भाषी आर्यों के लगभग १००० वर्ष पूर्व ही सिंधु-घाटी में पूर्व-वैदिक देवताओं की उपासना प्रचलित थी । अत: सिंधु-घाटी-सभ्यता आर्य सभ्यता थी परन्तु संस्कृत भाषा की जगह यहाँ भिन्न भाषा का उपयोग होता था ।[३७]

संस्कृत शब्दों व देवताओं पर प्रकाश--

कुशि, शकुन्त्य, शकुन्त, शकुनि, तकु (बलवान) yayush या अयस् (?), ये शब्द प्रो० ह्राजनी द्वारा······की गई शोध के परिणाम हैं । उससे अनुसार सील नं० ९२ में एक यंत्र मिलता है (Magical design) इस यंत्र के द्वारा सिंधुवासी

---

३५. वही—अध्याय—वही ।

३६. Ancient History of western Asia, India and crete — B. Hrozeny

३७. ....to our great Surprise there seems to appear an older Aryan people but pre-Sanskrit Component of the ancient Indians—Ibid

किसी दुर्भाग्य को दूर किया करते थे। रोग, राक्षस, प्रेतादि से मुक्ति प्राप्त करने के लिए ऐसे यंत्र उस युग में प्रचलित थे। इसी सील के दक्षिण पक्ष में एक व्यक्ति हाथ में एक पात्र लिए हुए वृक्ष की पूजा कर रहा है। अन्यत्र दो व्यक्ति वृक्षदेव yai के स्वागत में पौधे लगा रहे हैं। और एक देवी खड़ी हुई उन दो व्यक्तियों को आशीर्वाद दे रही है। इस प्रकार वह वृक्ष उन व्यक्तियों का देवता है। सील नं० ६३ पर भारतीयों का पवित्र पीपल वृक्ष है। इस पर ya-ya-e देव का निवास है।

एक अन्य सील पर एक ताबीज बना हुआ है जिसका प्रयोग तांत्रिक साधना में बराबर होता है। इस ताबीज पर फ़री (Fari) नाम अंकित है।[३८] इस पर दो पग चिह्न अंकित हैं और एक ओर जलयान अंकित है, जिस पर एक मनुष्य है। प्रो० ह्राजनी के अनुसार यह त्रिविक्रम विष्णु की कथा की ओर संकेत करता है। जलयान वस्तुतः सूर्य मण्डल है क्योंकि विष्णु सूर्यदेव है।

एक अन्य ताबीज़ में दो पग चिह्नों के बीच एक सर्प का चिह्न भी मिला है। यह ताबीज १६३८ ई० में पुरातत्ववेत्ता श्री मलोवन (Mallowan) को प्राप्त हुआ था। यह ताबीज (६६ नं०) २६०० ई पूर्व का है। इसमें सर्प, ब्रह्माण्ड के सर्प अर्थात् आकाश गंगा का प्रतीक है। इस ताबीज़ से स्पष्ट है कि उत्तरी मैसोपोटामिया व सिंधु-घाटी की आर्य सभ्यता में साम्य है क्योंकि उत्तरी मैसोपोटामिया में भी yayash, yai सूर्यदेव है जो भारोपीय विष्णु का पूर्व रूप है। yayash भारोपीय ci, ia या लैटिन eo से निकला है अथवा इसका सम्बन्धी प्राचीन भारतीय शब्द 'याति' से है अर्थात् जाता है=वह जाता है, इससे स्पष्ट है कि इस शब्द से विष्णु-यात्रा की ओर संकेत है। ओल्ड टेस्टामेण्ट के यह्वेह yahveh नामक देवता पर भी इस पूर्व वैदिक भाषा से प्रकाश पड़ता है। yav, yave तथा यव इन शब्दों से यह्वेह पर भी प्रकाश पड़ता है। यह यह्वेह वस्तुतः उत्तरी मेसोपोटामिया के मित्तनी लोगों से सम्बन्धित था। प्रो० ह्राजनी का तो यहाँ तक कहना है कि ओल्ड टेस्टामेंट के यह्वेह पर विष्णु (सूर्यदेव) का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है।[३९]

यह तो प्रसिद्ध ही है कि सील नं० ६४ पर पशुपति ध्यानावस्थित मुद्रा में आसीन हैं और योग-मुद्रा में स्थित हैं। पशुपति नग्न हैं, मेखला धारण किए हुए हैं और पद्मासन लगाए हुए हैं। सील के ऊपर यह अंकित है—

---

३८. (A - O - 13, Tab - 10 - 256 A· Fig. 100)

३९. Yahveh was originally a god of the Midianites. But who were these Midianites ? ....under these circumstances it is, in my opinion, very probable that Medan is identical with the Aryan state of the Mitanu, Maitani in Northern Mesopotamia.........even the Sounds of Yahveh who was walking in the garden of Eden"in the-cool of day," that is, before the sun-set may be a distant illusion to the daily pilgrimage and the footprints of the sun—Ancient History of western Asia. India, crete—B. Hrozeny

"कुइय (Kueya) देव के लिए यह याज्ञिक बलि है"[४०] एक अन्य सील पर तीन शेर अंकित हैं। सील में लिखा है—"कुइय देव का मुद्रा—यंत्र।"[४१] इस सील से स्पष्ट है कि यह दुर्गा देवी से सम्बन्धित है क्योंकि दुर्गा शेर पर सवार होती है। कुइय शब्द इत्ती भाषा से सम्बन्धित है। इस देवता का सम्बन्ध लिंग पूजा से भी दिखाई पड़ता है और एक स्थान पर हाथी से भी इसका सम्बन्ध है। सम्भवतः गणेश के लिए इस हाथी को अंकित किया गया है। इस कुइय (Kueya) या कुयश (Kuyash) या कुयेयश (Kueyash) का सम्बन्ध रुद्र-शिव से है और शिवा का सम्बन्ध दुर्गा से है जो शेर पर आसीन है। यह पृथ्वी व वनस्पति की देवी है। १०६ नं० के तावीज़ में 'शिवा' शब्द मिलता है। इसमें देवी लेटी हुई है और एक पौधा उसके पेट से निकला हुआ दिखाया गया है। इसी ताबीज की दूसरी ओर एक मनुष्य का चित्र है जो एक स्त्री के बलिदान के लिए प्रस्तुत है। इस मनुष्य के हाथ में हँसिया (Sickle) की तरह का एक चाकू है। यह बलिदान सम्भवतः दुर्गा देवी के लिए किया जा रहा है। बलिदान, नृत्य आदि कार्य एशिया माइनर में देवी की प्रसन्नता के लिए आर्यों के पूर्व कालीन युगों में होते आ रहे थे, यह हम कह चुके हैं।

नं० १११ की मूर्ति (Fig) विचित्र है, इसमें देवी का शरीर तो शेर का है और मुख की जगह एक देवी खड़ी हुई है।

नं० ११२ की मूर्ति (Fig) भी पाँच स्वस्तिक चिह्नों से युक्त है। इन स्वस्तिक चिह्नों के द्वारा देवी से भयभीत मनुष्य रक्षा पाता था।

इस शिवादेवी का चिन्ह है "योनि"। इससे जनता भयभीत रहती थी और स्वस्तिक चिन्हों द्वारा इससे अभय प्राप्त करती थी।

रुद्र, शिवा व दुर्गा के अतिरिक्त आर्यों का 'इन्द्र' हत्ती शन्तस् Shantae लिया गया है। यह शन्तश् मैके की पट्टिका (Tabletes) नं० ८३-३३ में पढ़ा जा सकता है। इसी प्रकार मैके की पट्टिका नं० ९८-५९८ में ७ उशी, उशिय, उशीय या उशिश् शब्द वैदिक उषा से सम्बंधित हैं।

मार्शल की पट्टिका नं० ११३-४१५ में कुटश् शब्द पढ़ा गया है। इसका सम्बंध प्रो० ह्राजनी सर्प व कुंडलिनी से जोड़ते हैं। यदि यह अनुमान शुद्ध है तो उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सिंधु-सभ्यता में योग का विकास हो चुका था, और आर्य देवता इन्द्र, उषा द्यावापृथ्वी आदि की पूजा प्रचलित थी। मैके की पट्टिका नं० ८८-३१४ में इय (Eai, Ee, Eei, Eye, Eya, Eyai) शब्दों का उल्लेख मिलता है। सुमेर बेबीलोनिया में Ea शब्द जल-देव के लिए आता है अतः सिंधु में 'इय' वरुण के पूर्व देव माने जाने चाहिए।

एक स्थान पर निशा (Nisha) शब्द का प्रयोग मिलता है जो मनु की पत्नियों में से एक का नाम था।

---

४०. Here (is) the Sacrificial fee for god Kueya

४१. The seal. Amulet of god Kueya (Marshall III, Tab. 112, 386)

इन नवीन शोधों से मितन्नी तथा वैदिक युग के पूर्व के युग के धर्म पर प्रकाश पड़ता है । इन आश्चर्यजनक तथ्यों पर सहसा विश्वास नहीं होता कि वैदिक धर्म के कितने तत्व इस रूप में वैदिक युग से पूर्व ही अपने प्रारम्भिक रूप में प्रचलित थे। इस प्रकार हत्ती देवराज्य से--विष्णु (yac) या सूर्य, शिव (Kueyash) तथा इन्द्र (Shantash) का विकास मिलता है ।

हत्ती जाति की ही एक शाखा हरीयनों (Hurrian), के देवराज्य से चन्द्र (Kush या Kushuh) तथा उसकी स्त्री उषा (Unish) तथा नटराज का विकास मिलता है ।

इसी प्रकार बेबीलोनिय से मित्र (Akush), वरुण (Eya), सूर्य देवी (Aya) तथा सप्त राक्षसों का विकास मिलता है । बेबीलोनिया का प्रभाव इन प्रारम्भिक आर्यों पर हत्ती (Hiero-glyphic) तथा हरियन लोगों में माध्यम के पड़ा था। इस विवेचन से स्पष्ट है कि ३१००-२९०० ईसा पूर्व के लगभग एशिया माइनर, उत्तरी सीरिया तथा उत्तरी-पश्चिमी मेसोपोटामिया से सिंधु-घाटी पर आक्रमण हुआ था। लिखने की कला भी ये लोग अपने साथ लाए थे और उपर्युक्त धार्मिक मान्यताएँ भी। २००० ई० पूर्व द्रविड़ों के आक्रमण हुए होंगे जिसका अवशेष ब्राहुई है । १५००-१२०० ई० पूर्व में वैदिक आर्यों का प्रवेश भारत में हो जाता है यह हमें ज्ञात है जो द्रविड़ों को दस्यु कहते हैं । इन आर्यों में मित्तन्नी-दल रहा होगा जो नदी या समुद्र को शिय (Shiya) कहते थे । इसी से सिंधु शब्द विकसित हुआ होगा, काठियावाड़ व अरावली भी हत्ती भाषा के शब्द हैं ![४२]

प्रो० ह्राजनी की इस शोध से सर्व प्रथम यह स्पष्ट है कि वैदिकधर्म का विकास एशियामाइनर के उस धर्म से सम्बंधित है जो सुमेर-बेबीलोनिया, हत्ती तथा हरियन प्रदेशों में फैला हुआ था । सुमेर व सिंधु की घाटी की धार्मिक मान्यताओं में इस प्रकार घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित होता है । द्वितीय तथ्य यह है कि सिंधु सभ्यता प्रारम्भिक आर्यों की ही सभ्यता थी, अनार्यों की नहीं, क्योंकि सिंधु के आर्यों में रुद्र, शिव, दुर्गा, इन्द्र, वरुण, नटराज आदि की उपासना प्रचलित थी । तृतीय तथ्य यह कि सिन्धु घाटी से द्रविड़ों का सम्बन्ध प्रारम्भिक आर्यों के आने के पश्चात् हुआ अतः वैदिक आर्यों के आगमन के पूर्व सिन्धु-घाटी में प्रारम्भिक आर्य-द्रविड़ सभ्यता स्थापित हो चुकी थी । चतुर्थ तथ्य यह है कि वैदिक देवताओं इन्द्र, वरुण, सूर्य के साथ साथ रुद्र व दुर्गा की उपासना भी प्रचलित थी और योग, कुंडलिनी, लिंग, योनिपूजा, बलि-प्रथा आदि तांत्रिक मान्यताओं का पूर्वरूप विकासित हो चुका था । इसके अतिरिक्त उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि प्रारम्भिक आर्य-धर्म (Proto Indian Religion) के बहुत पूर्व शक्ति उपासना मिस्र, सुमेरु, बेबीलोनिया, अक्कद, आदि प्रदेशों में प्रचलित थी, इस शक्ति उपासना ने प्रारम्भिक आर्यों को भी प्रभावित किया । चूंकि प्रारम्भिक आर्यों में अधिकतर देवता पुरुष शक्ति प्रधान हैं अतः सुमेरु,बेबीलोनिया मिस्र में प्रचलित शक्ति उपासना से प्रारम्भिक

४२. Ancient History of western Asia, India, crete-B. Hrozeny

आर्य प्रभावित हुए जिसका परिणाम है सिन्धु-घाटी की शिवा व दुर्गा। शिवा, दुर्गा तथा रुद्र के साथ नरमेध, कुंडलिनी-योग, ध्यानयोग, नग्न मूर्ति-उपासना, लिंग-योनिपूजा, वृक्ष-पूजा, आदि का विशेष सम्बन्ध है अत: वैदिक आर्यों ने ऋग्वेद की उपासना में इसे स्वीकार नहीं किया और देवताओं में रुद्र व देवियों में आम्भृणी के सूत्रों को छोड़कर इस रुद्र-दुर्गा उपासना को विशेष महत्त्व नहीं दिया। परन्तु रुद्र-दुर्गा सम्प्रदाय के साथ सहस्रों वर्षों में विकसित जनता के सामान्य विश्वासों तथा स्थानीय उपासना प्रकारों का सम्बंध था, अतः अथर्ववेद में रुद्र, दुर्गा सम्प्रदाय के सभी तत्त्व जादू, भूत-प्रेत राक्षस, लिंगपूजा मारण, मोहन, उच्चाटन, योग के अनेक रूप, आदि तत्त्व मिलते हैं। मिस्र सुमेरु बेबीलोनिया में प्रचलित शक्ति-उपासना तथा सामान्यधार्मिक अंध-विश्वासों का रूप अथर्ववेद में सुरक्षित है जिसमें न केवल मिस्र, सुमेरु आदि के अंध-विश्वासों का अपितु भारत की अवैदिक जातियों के सामान्य व सार्वजनीन भावनाओं को भी ग्रहण किया गया है। यह धारा अथर्ववेदीय मंत्रों में प्रकट होकर ऋग्वेदीय ऋषियों द्वारा तिरस्कृत रही परन्तु उसका लोप कभी नहीं हुआ और समय समय पर वह वैदिक धर्म को प्रभावित करती रही। उपनिषद युग के चिन्तन को भी इसने प्रभावित किया है[४३]। उपनिषद युग के पश्चात् शैव, शाक्त, वैष्णव सम्प्रदायों के रूप में इसी अथर्ववेदीय धारा का विकास हुआ और ईसा के पश्चात् ६, ७ वीं शताब्दी में महायान तांत्रिक धर्म भी इससे प्रेरणा लेकर अपने विशिष्ट रूप के साथ समानान्तर मार्ग पर विकसित होने लगा। ईसा पश्चात् ६ वीं ७ वीं शताब्दी से १४ वीं शताब्दी तक शैव, शाक्त, बौद्ध, वैष्णव तांत्रिकों का भारतीय धर्म-साधना पर प्रबल प्रभाव मिलता है।

---

४३. द्रष्टव्य—the religion and Philorophy of Athervaveda-N. j. Shende, भंडारकर इंस्टीटयूट-पूना, १९५२

श्रीनारायण पाण्डेय

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की भाषासम्बन्धी नीति और उसका हिन्दी पर असर

किसी भी भाषा का विकास उसके बोलने वाले जन समाज के मानसिक एवं सांस्कृतिक विकास के साथ तो अपरिहार्य रूप से जुड़ा रहता है, राजकीय प्रश्रय अथवा उपेक्षा का भी उस पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। राज्याश्रय पाकर पनपने वाली भाषाओं तथा राज्य द्वारा उपेक्षित होकर जन समाज की प्रबल ममता के आश्रय में पलने वाली भाषाओं के विकास की गति-विधि में स्पष्ट अन्तर देखा जा सकता है। राज्याश्रय प्राप्त कर संस्कृत तथा उसके बाद शौरसेनी एवं तदन्तर ब्रजभाषा अपने अपने युग के अनुरूप सरलतया विकसित हो सकी थीं। परन्तु इन्हीं भाषाओं की वंश-परम्परा में आने वाली हिन्दी को अपने विकास के प्रारम्भिक काल में राजकीय आश्रय अथवा प्रोत्साहन प्राप्त न हो सके। उसके संरक्षण की गाथा, इसके बोलने वालों के ममत्व की गाथा है।

आधुनिक हिन्दी का रूप-गठन हो ही रहा था कि भारत में ईस्ट-इण्डिया कम्पनी का शासन स्थापित हो गया। शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिये प्रशासकीय भाषाओं का निर्धारण भी हर राज्य में हुआ करता है। कम्पनी ने भी अपने प्रशासकीय कार्यों के लिये अपनी भाषा सम्बन्धी नीति निर्धारित की। ब्रिटिश सरकार की नीति तथा भारतवर्ष में शिक्षा पर एच० हावेल ने लिखा है कि

"Education in India under the British Government was first ignored, then conduced on a system now universally admitted to be erroneous and finally placed on its present footing."[1]

---

१. H. Howill—Education in British India, 1872, P. 1.

१८१३ ई० में पहली बार कम्पनी सरकार ने शिक्षा के लिये १ लाख रुपये का अनुदान स्वीकार किया। इसका उद्देश्य ज्ञान विज्ञान का प्रचार-प्रसार था।[२]

१८१३ के पूर्व भी शिक्षा पर चार्ल्स ग्रान्ट ने अपना मत व्यक्त किया था[३]। ये सफल नहीं हो सके थे। जैसे जैसे राज्य में विस्तार होता गया कम्पनी की भाषा-सम्बन्धी नीति में भी परिवर्तन होता गया।

१८१३ के घोषणा पत्र को शिक्षा के इतिहास में मैगनकार्टा कहा जाता है। इसके पूर्व यों अनेक यूरोपीय विद्वानों का ध्यान प्राच्य-विद्याध्ययन की ओर जा चुका था। १७८०[४] में वारेन हैस्टिंग्स ने कलकत्ता मदरसा की नींव डाली थी। १७८४ में विलियम जोन्स ने एसियाटिक सोसाइटी तथा १७९१ में जोनाथन डन्कन ने बनारस कालेज की स्थापना कर दी थी। फोर्ट विलियम कालेज के अन्तर्गत भी विदेशियों को कामचलाऊ भारतीय भाषाएँ सिखाई जा रही थीं, किन्तु १८१३ के चार्टर में पहली बार शिक्षा के लिये अनुदान स्वीकार किया गया था। इसके पूर्व मोटे तौर पर शिक्षा के क्षेत्र में तीन प्रकार के वर्ग कार्य कर रहे थे। (१) मिशनरी (२) प्राच्य विद्या प्रेमी (३) प्राचीन प्रणाली पर चलने वाली पाठशालाएँ और मदरसे। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से परिचित अँग्रेजों के सम्पर्क में आने पर भी भारतवर्ष में अनेक ऐसी संस्थाएँ चल रही थीं जिनकी शिक्षा का उद्देश्य धार्मिक था।

मिशनरियों का ध्येय भारतवर्ष में ईसाई धर्म का प्रचार करना था। धर्म-प्रचार के लिये इन्होंने भारतीय भाषाएँ सीखीं, उनमें अपने धर्म ग्रन्थ प्रकाशित किये, स्कूल

---

२. "........ ...set apart and applied to the revival of and improvement of literature, and to the encouragement of the learned native of India, and for the introduction and promotion of a knowledge of the sciences in the British territories of India."
(As quoted in Education and Statesmanship I India 1797—1910. By H. R. James. P. 12)
(Also in Adams Report. Introduction P. XIV. 1941)

३. Charles Grant observation on the state of society among the Asiatic subjects of Great Britain. 1792. Paliamentary papers, 1831—1832. Vol. VIII (734).

४. "The first English missionary college in India owed its foundation to the Baptist. In 1799 Cary and four other missionaries, in order to avoid the opposition of the British authorities, established themselves at Serampur, on the Hooghly, which at that time a Danish possession. This group of Baptist missionaries rendered themselves illustrious by their literary activity, and in ten years the Bible was translated and printed, in whole or in part, in fourty-one languages. In 1818 they founded a Serampur College.
(Imperial Guzzeteers of India. Vol. IV on edncatin)

खोले उनमें देशी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा देने की चेष्टा की।[५] धर्म-प्रचार उद्देश्य होने पर भी ईसाई मिशनरियों का बहुत बड़ा अवदान आधुनिक भारतीय भाषाओं के इतिहास में है।

प्राचीन विधि से पढ़ाई जाने वाली भाषाओं में संस्कृत और अरबी मुख्य थीं। उनका उद्देश्य धार्मिक विधि-विधानों पर आधारित सामाजिक परम्पराओं का संरक्षण था। क्या हिन्दू क्या मुसलमान दोनों जातियों में शिक्षा-विधि का एक-सा प्रचलन था।[६]

इस युग के भारतीय शिक्षा के इतिहास में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का स्थान विशेष महत्वपूर्ण है। कम्पनी की शक्ति धीरे-धीरे बढ़ती जा रही थी। शीघ्र ही वह एक व्यापारी संस्था से शासक-संस्था के रूप में परिणत हो गई। प्रशासनीय कार्यों के लिए कम्पनी को ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ने लगी जो भारतीय भाषाएँ भी जानते हों। इसी ध्येय से फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की गई। कम्पनी के सामने १८१३ ई० में शिक्षा सम्बन्धी ऐक्ट आया, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। इस ऐक्ट का उपयोग काफी समय तक न किया जा सका।[७] १८२४ में उपर्युक्त फैसले के अनुसार कलकत्ते में संस्कृत कालेज स्थापित करने तथा कलकत्ता मदरसा के पुनर्गठन की चर्चा चली। किन्तु यहीं पर भाषा-विवाद भी उठ खड़ा हुआ। भाषा को लेकर दो दल बन गये। एक को प्राच्यवादी (Orientalists) तथा दूसरे को पाश्चात्यवादी (Anglicists) कहा जाता है। इन दिनों कलकत्ता संस्कृत कालेज तथा कलकत्ता मदरसा में शिक्षा संस्कृत और अरबी माध्यम से दी जाती थी। पाश्चात्यवादी इस पक्ष में थे कि अँग्रेजी के माध्यम से शिक्षा दी जानी चाहिये। राजा राममोहन राय ने संस्कृत

---

५. डॉ० महादेव साहा के निबन्ध में कलकत्ता मदरसा की स्थापना १७८० ई० लिखा गया है। इसके पूर्व के लेखक उसकी स्थापना तिथि १७८१ देते आये हैं, जो कि रेकार्ड में उल्लिखित तिथि के अनुसार गलत साबित हुआ है।

(देखिये—साहित्य सम्मेलन पत्रिका में प्रकाशित "डेढ़ शताब्दी पूर्व देशी भाषाओं के माध्यम से शिक्षादान की प्रचेष्टा, १९५७।)

६. "The Education impared was to make the pupils staunch Hindus or Muslims, uncritical subscribers to their respective religious and social structures sanctioned by those religions."

(Social Background of Indian Nationalism P. 118. Second edition 1954

७. "A small sum annually (£ 10,000) was allotted for the encouragement of Education, Literature and science. For many years this fund was badly administered, but the clause marked the first open recognition by the Government of the duty of ameliorating the moral and intellectual condition of the people of India.

(History of British India. Roberts. P. 279) Also in "Education and Statesmanship In India 1797—1910" P. 13. 1911)

शिक्षा का विरोध किया—"The Sanskrit Language, so difficult that almost a life time is necessary for its acquisition." (As quoted in Rev. D. Duff's Letters, addressed to Lural Auckland, on the subject of Native Education. 1814)

राजा राममोहन राय की धारणा थी कि अँग्रेजी भाषा तथा यूरोपियन सभ्यता के ही अध्ययन-अध्यापन से भारतवर्ष की उन्नति हो सकती है। संस्कृत साहित्य के पठन-पाठन की अनुपयोगिता पर उन्होंने ११ दिसम्बर १८२३ को एक पत्र लार्ड एमहर्स्ट के नाम लिखा था।[८] पाश्चात्यवादियों (Anglicists) का मत था कि भारतीय भाषाएँ अविकसित हैं। इनमें आधुनिक विचारों को व्यक्त करने की क्षमता नहीं है। इन्हीं पूर्व ग्रहों के कारण मैकाले ने अँग्रेजी को प्रधानता देने के लिये भारतीय भाषाओं में प्राप्त साहित्य की मखौल उड़ाई थी।[९]

---

८. "Neither can much improvement arise from such speculator as following, which are the themes suggested by vedanta—in what manner's the soul observed in to the Diety ? What relation does it bear to the divine essence ? Nor will youths be fitted to be better members of society by the Vedantic doctrines, which teach them to believe that all visible things have no real existence ; that as father, brother etc. have no actual entity; they consequently deserve no real affection, and therefore the sooner we escape from them and leave the world better. Again, no essential benefit can be derived by the students of the mimangsa from knowing what it is that makes the killer of a goatsinless on pronouncing certain passages of the Vedanta ; and what is the real nature and operative influence of passages of the Vedas, f. c."

(As quoted in "The proper place of oriental Literature in Indian Collegiate Education." By Rev. K.M. Banerjee 1868)

९. "The question now before us is simply, whether, when it is in our power to teach this language; we shall teach language in which; by universal confession; their are no books on any subject which deserve to be compared to our own; whether when we can teach European science we shall teach systems which, by universal confession, wherever they differ from those Europe differ for the worse, and whether, when we can patronize sound philosophy and true History, we shall countinance, at the public expense, medical doctrines which would disgrace an English farrier, astronomy which would move laughter in girls at an England Boarding School, history abounding to Kings thirty feet heightend reign thirty thousand years long, and Geography made of seas of treacle and seas of butter.

(Imp. Gazetteers of India Vol. IV).

मैकाले ही की तरह नकारात्मक दृष्टिकोण होरेस हेमैन विल्सन का भी था।[१०] किन्तु प्राच्यवादी (Orientalists) ठीक इसके विपरीत थे। उनके मत से शिक्षा भारतीय भाषाओं के ही द्वारा होनी चाहिये। इनमें भी दो मत मानने वाले थे। कुछ लोग अरबी और संस्कृत के समर्थक थे तो कुछ आधुनिक भाषाओं के। आधुनिक भाषाओं की क्षमता और उनके पठन-पाठन की उपयोगिता पर विचार करते हुए Junius[११] ने "The fraindS of India" में पत्र लिखे थे। इस पत्र के बंगला और हिन्दी सम्बन्धी अंश महत्वपूर्ण हैं।

gunius ने इस वाद-विवाद पर लिखा है कि—

"...........the question now under discussion, whether it is better to convey European knowledge to the Natives, indirectly, through the medium of their own languages and Literature, or, directly, through that of ours —I observe with some surprise that you seem to prefer the latter alternative.

...........Bengalee the language of twenty-five millions has good Dictionaries and grammer, as well as works which quoad language, exibit a respectable share of precision and compass, while its connection with Sanskrit and the peculiar genius of the latter, offered extraordinary means of enrichment by new terms, competent to express any imaginable modification of thought. I call upon you, Sir, to explain and unfold in detail my further assertions, that throughout the Bengalee Presidency wherever Bengalee is not spoken, Hindee is the basis of that almost single vernacular language which is common to all Hindoos and all rural Muslamans, that Hindee passess books which in point of language exibit very considerable actual and latent power; that the latter may be educed and extended to any requisit degree through the connection of Hindee with sanskrit, and that lastly, scarcely any part of the population of our vast presidency which uses not Bengalee or Hindee has other language than Hindoostanee, a language rich in grammars, Dictionaries, and written works; and from its flexible genius, capable of amalgamating with its existing wealth any and every variety of new term and vocables which

---

१०. Modern Indian languages are "Utterly incapable of representing European ideas; they have no words where with to express them."
(Lord Auckland's Munnite on Nature Education p. 40.

११. Gunius के छद्म नाम से इन पत्रों को B. H. Hodgson ने लिखा था।

Sanskrit and Arabic can furnish from there unexhaustable fountain.

(For letters on the Education of the people of India p. 8. 1835).

भाषा के विवाद में हिन्दी बंगला के प्रति लोगों का झुकाव किस प्रकार का था इससे इसका पता चलता है।

इन वाद-विवादों के वावजूद १८३५ ई० में अँग्रेजी को प्रधानता दी गयी। किन्तु फिर भी बंगाल में स्थानीय व्यक्तियों द्वारा मातृभाषा की शिक्षा देने का आन्दोलन चलता रहा।[१२] अँग्रेजी की क्या स्थिति हो, और शिक्षा पर व्यय किया जाने वाला रुपया किस प्रकार खर्च किया जाय इस पर यह उद्धरण पर्याप्त होगा।

"...........the great object of the British Government ought to be the promotion of European Literature and science among the natives of India, and that all the funds appropriated for the purpose of Education would be best employed on English Education alone' and further 'that all the funds be henceforth employed in imparting to the native population a knowledge of English literature and science through the medium of the English Language."

(As quoted in Social Background of Indian Nationalism P. 126. Second Edition 1954)

शिक्षा की भाषा अँग्रेजी स्वीकार कर लेने के बाद प्रशासकीय भाषा का प्रश्न उठा। १८३७ ई० में फारसी को हटाकर देशी भाषाओं को प्राथमिकता दी गई। किन्तु हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों में उस समय भी कचहरी की भाषा हिन्दी नहीं बनाई गई। बिहार और मध्यप्रदेश की सरकारों ने १८८१ में फारसी को हटाकर हिन्दी को स्वीकार किया।[१३] प्रशासकीय भाषा का स्थान हिन्दी को न मिलने से उसके

१२. डॉ० महादेव साहा—डेढ़ शताब्दी पूर्व देशी भाषा के माध्यम से शिक्षादान की प्रचेष्टा। (साहित्य सम्मेलन पत्रिका १९५७)

१३. "फारसी सन् १८३७ ई० तक जारी रही और उसके पीछे अँग्रेज गवर्नमेन्ट ने फारसी से सर्व साधारण प्रजा को कष्ट में देखकर देश-भाषा जारी करने की आज्ञा दी। और उसी आज्ञा के अनुसार बंगाल में बंगला, गुजरात में गुजराती और महाराष्ट्र में महाराष्ट्री प्रचलित हुई और पश्चिमोत्तर अवध, बिहार, मध्यप्रदेश आदि में हिन्दुस्तानी जारी की गई, परन्तु उस समय अँग्रेज हाकिमों को न जाने क्या उल्टी सीधी समझाकर अमलों ने उर्दू ही हिन्दुस्तानी भाषा है, समझा दिया और उसी के अनुसार उर्दू प्रचलित हो गई, परन्तु इस भ्रम को समझ कर बिहार और मध्यप्रदेश की गवर्नमेण्ट ने सन् १८८१ ई० में उर्दू को उठाकर हिन्दी जारी कर दी।" (राधाकृष्ण ग्रन्थावली, १९३० पृ० ८४)

शासन सम्बन्धी साहित्य का विकास न हो सका; जिसके लिये आज चेष्टा की जा रही है।

शासन में असुविधा के कारण पश्चिमोत्तर प्रदेश को अलग सूबा बना दिया गया। इस सूबे की प्रशासकीय भाषा की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। अब रही शिक्षा की भाषा। जो भाषा राज्य की भाषा स्वीकार कर ली जाती है, उसके पठन-पाठन की व्यवस्था करना भी आवश्यक हो जाता है। १८३७ ई० में देशी भाषाओं को कचहरी की भाषा स्वीकार कर लेने से बंगाल में उसका व्यवहार होने लगा था जिससे १८५० ई० के आसपास बंगला गद्य को जो स्वरूप ईश्वर चन्द्र विद्यासागर के हाथों मिला, हिन्दी को उसके लिये १९०३ तक महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रतीक्षा करनी पड़ी।

अभी तक पश्चिमोत्तर प्रदेश में शिक्षा का संचालन बंगाल शिक्षा कमेटी के द्वारा होता था। किन्तु इस स्थिति में दूर के प्रान्तों के साथ न्याय नहीं हो पाता था, इसके विरुद्ध उन दिनों टिप्पणियाँ लिखी गईं।[१४] १८४३ ई० में पश्चिमोत्तर प्रदेश के लिये डाइरेक्टर आफ् पब्लिक इन्सट्रक्शन (D. P. I.) का गठन किया गया। यहीं से पश्चिमोत्तर प्रदेश में जन-शिक्षा का इतिहास प्रारम्भ होता है, जिसका श्रेय उस समय के पश्चिमोत्तर प्रदेश के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर मिस्टर टामसन को है।[१५] इसके अनुसार पश्चिमोत्तर प्रदेश में शिक्षा पर खर्च करने के लिये १२३,००० रुपया स्वीकार किया गया। बनारस कालेज पहले ही स्थापित हो चुका था। आगरा और देहली कालेज की भी स्थापना १८२३-२५ के बीच हो चुकी थी। इन कालेजों में अँग्रेजी के साथ-साथ उर्दू, हिन्दी, संस्कृत अरबी, आदि भारतीय भाषाओं की भी शिक्षा दी जाती थी, इनमें पुस्तकें छपतीं और उनके विकास की भी चेष्टा की जाती थी। बनारस कालेज में हिन्दी की पढ़ाई संस्कृत विभाग के अन्तर्गत डाइरेक्टर आव पब्लिक इन्सट्रक्शन के निर्देशानुसार १८४९ में होने लग गई थी। किन्तु फिर भी लोगों का ध्यान हिन्दी की ओर नहीं था। उर्दू राज्य में कचहरी की भाषा थी, अँग्रेजी को नौकरियों में प्रधानता दी जाती थी। हिन्दी की व्यावहारिक उपयोगिता नहीं के बराबर थी। हिन्दी की इस स्थिति से असर यह पड़ा कि १८५४ ई० में एक सरकारी विज्ञप्ति जी० ओ० संख्या ३०७४ के अनुसार अहिन्दी की पढ़ाई बन्द कर देने के लिये विभिन्न शिक्षा संस्थाओं की राय मानी गई, जिसे सुविधा के लिये उद्धृत किया जा रहा है।

The question of propriety or expediency of continuing the study of Hindee in all the Government institution, had

---

१४. "A committee sitting in Calcutta are not likely to be the best judges of what is most conducxive to the interests of remote parts of northern India. There is disposition in Calcutta committee to monopolize all power and influence to themselves, thus introducing all the evils of the centralization which exists in France."

(Calcutta christian observer XII 1843. Also Christian Intelligencer. XIV. 1844)

१५. Adam's Report. 1941. Calcutta Edition. p. 489.

been fully debated in 1854, by the several Local Committees, who were invited to the discussion by G. O. 3074 of 1854, dated 20th November, in following terms—

"In considering the course of study for junior and senior scholarship the question has been raised whether the inconvenience experienced from the study in the collegiate institutions of Government of two vernacular languages, is compensated by any corresponding benefit derived from the acquisition of Hindee,"

इस पर Visitor General ने निम्नलिखित आशय का विचार व्यक्त किया :—

"Hindee is the language of the agrarian population ; oordoo, of the residents in town and cities. The Government colleges are supplied with the students almost entirely from the latter class, Hindee students few. Hindee can be learned as well as out side, as with in the college walls. The aquaintance with Naguree, contemplated in the latter G.O. may be gathered in many ordinary pathsalas. The study of the Hindee might be abolished in our colleges, (excepting Benares) and as soon as we have good schools, where Hindee will receive more attention than is possible, it should receive in an institution, whose other objects are so distinct, and considered to be of great importance."

(N.W. P., D. P. I. Report 1854-55)

विजिटर जनरल की इस रिपोर्ट में हिन्दी को देहाती जनता की भाषा कहना, इसके पढ़ने वालों की संख्या मुट्ठी भर कहना, इसकी शिक्षा पर "क्या स्कूल की दीवाल में भीतर क्या बाहर" की बातें करना, हिन्दी के प्रति रखे जाने वाले दृष्टिकोण का परिचय देती हैं। ऊपर ही स्पष्ट कर दिया गया है कि किसी भी भाषा के विकास के पीछे आर्थिक कारण होता है। हिन्दी न राज्य की भाषा थी, न नौकरी मिलने में ही सुविधा प्रदान करती थी। ऐसी हालत में विद्यार्थियों की संख्या कम हो तो कभी आश्चर्यजनक नहीं।

लोकल कमेटी से मांगे गये विचारों में यह निर्देश कर दिया गया है कि यदि कमेटियाँ तैयार हों तो गवर्नर जनरल इस पर विचार करेंगे।[१६] इस आशय की रिपोर्ट पर

१६. "If the Local Committees are generally of opinion, that without in justice to any considerable class of the students themselves, the study of Hindee (a knowledge of which is indispensible in public administration.) as distinct branch, should be dis-continued, the Lieutenant Governer will be prepared to consider the point, excepting as to the Benares college, where the character of the language spoken, and the nature of the sanskrit studies render it advisable on special ground, to retain Hindee Classes."

(D. P. I. Report 1854-55)

विभिन्न कमेटियों ने विभिन्न मत दिये । आगरा कमेटी की राय थी कि हिन्दी की पढ़ाई बन्द कर देनी चाहिये । सर्वसाधारण विद्यार्थियों के लिये हिन्दी का अध्ययन बन्द कर केवल विशेष ज्ञान के इच्छुक छात्रों के लिये एक योग्य अध्यापक रख दिया जाय ।[१७] देहली कमेटी ने नागरी अक्षरों के सीखने पर जोर दिया ।[१८] बरेली कालेज की कमेटी ने एक स्वर से हिन्दी की पढ़ाई बन्द कर देने के पक्ष में अपना मत दिया ।[१९] सागर कमेटी ने, हिन्दी की पढ़ाई चालू रखी जाय, इसका एक स्वर से समर्थन करते हुए तर्क दिया कि सगर तथा नर्वदा क्षेत्र की भाषा हिन्दी है । इसकी अवहेलना नहीं की जा सकती ।[२०] अजमेर कमेटी ने भी हिन्दी का ही समर्थन किया । उसने कहा कि भाषा हिन्दी है । उर्दू केवल उन्हीं स्थानों पर बोली जाती है, जहाँ पर यूरोपियन हैं । अतः यहाँ के निवासियों

---

१७. The Agra Committee was of opinion that the study of two vernacular languages, on the same footing, was inconvinient. They therefore, recommended the abolition of Hindee Classes, proposing, however that one well paid and able professor of Hindee Literature be retained for the assistance of such students, as many wish to attain light proficiency in Hindee.

(D. P. I. Report. 1854—55)

१८. "The Delhi Committee discussed the propriety of retaining the study of Naguree merely as a script character, and left alone the question of Hindee classes. They were in favour of insisting on an acquentence with Naguree for all students. This requirement I consider most judicious and reasonable.

(N. W. P., D. P. I. Report 1954—55)

१९. "The Bareilly Committee were unanimously of opinion that the study of Hindee might be discontinued in the college without any dertrement."

(D.P.I. Report 1854—1855)

२०. The Saugar Committee, on the other hand, held that, "The study of Hindee could not be discontinued in the government school, without injustice to a considerable number of students. For beyond the precincts of court. Hindee is the Universaly used language in the Saugar and Nurbudda territories. and cannot be disregarded The obsence, too, of efficient Hindee school at saugar, formed another, and a strong plea in favour of the continuence of Hindee classes.

(D. P. I. Report N. W. P. 1854—55)

को ध्यान में रखकर कभी भी हिन्दी की पढ़ाई बन्द नहीं की जा सकती। इसका असर शिक्षा तथा यहाँ के व्यक्तियों की मनोवृत्ति पर बुरा पड़ेगा।[२१]

इसके पश्चात् यह निश्चय किया गया।

"...........it is evident, that the Hindee classes at Agra, Delhi, and Bareilly, might be abolished without inconvenience. There are no seperate Hindee classes at Delhi, Benares Saugar and Ajmere."

हिन्दी के सम्बन्ध में अपनाई जाने वाली कम्पनी की नीति का असर बराबर हिन्दी के विकास पर पड़ता रहा। कालेजों में हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाना तो दूर रहा उसके स्थान पर उसमें विभागीय पठन-पाठन को भी लेकर उपरिलिखित जिस तरह की नीति अपनाई गई थी, उसने १८५७ के बाद भी हिन्दी साहित्य को प्रभावित किया है।

कम्पनी की इस नीति से हिन्दी के प्रति लोगों का झुकाव कैसा था, उसके पढ़ने में विद्यार्थी कितनी रुचि रखते थे—इसका अनुमान निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है। यहाँ पर १८५३ में हिन्दी पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या जानने के लिये बरेली तथा बनारस कालेज की रिपोर्ट रख रहे हैं।

तालिका—बनारस कालेज छात्र संख्या (धर्मानुसार) १८५३ ई०

विभाग	क्रिश्चियन	मुसलमान	हिन्दू	अन्य	योग
अँग्रेजी	३	४	१५२	०	१५९
परशियन	०	१५	३४	०	४९
संस्कृत	०	०	१२१	०	१२१
कुलयोग	३	१९	३०७		३२९

२१. "Ajmere is situated in heart, and in respect to language may be considered a component part of the Rajpoot state. The dilect of the people is essentially Hindee. oordoo being alone spoken where Europeans are present. To discontinue the teaching of Hindee at the Ajmere institution would, I apprehend, be as distasteful to the people, as it prove injurious to the speed of Education, and detrimental to the numerical attendence of scholars, who are principally driven from the Hindoo Inhabitants of the Town."

(D. P. I. General Report N. W. P. 1854—55)

तालिका—बरेली-कालेज छात्र-संख्या (धर्मानुसार) १८५३ ई०

विभाग	क्रिश्चियन	मुसलमान	हिन्दू	अन्य	योग
अँग्रेजी	१	२८	१४६	०	
प्राच्य-भाषा	०	४६	६२	०	
योग	१	७४	२०८	०	२८३

तालिका—बनारस कालेज—छात्र-संख्या (विषयानुसार) १८५३.

अँग्रेजी				उर्दू			हिन्दी			परशियन	अरबी	संस्कृत
केवल	केवल उर्दू के साथ	उर्दू और परशियन या अरबी के साथ	हिन्दी या संस्कृत के साथ	केवल	परशियन और अरबी के साथ	हिन्दी और संस्कृत के साथ	केवल	संस्कृत के साथ	परशियन या अरबी के साथ			
८	६३	१३	६०	०	०	०	०	०	०	३६	६	८०

तालिका—बरेली कालेज—छात्र-संख्या (विषयानुसार) १८५३.

अँग्रेजी				उर्दू			हिन्दी			परशियन	अरबी	संस्कृत
केवल	केवल उर्दू के साथ	उर्दू और परशियन या अरबी के साथ	हिन्दी या संस्कृत के साथ	केवल	परशियन या अरबी के साथ	हिन्दी और संस्कृत के साथ	केवल	संस्कृत के साथ	परशियन और अरबी के साथ			
०	१७५	०	०	०	६१	०	०	१७	०	०	०	०

इन तालिकाओं से अनुमान लगाया जा सकता है कि इस नीति का हिन्दी पर क्या असर पड़ा था। ३१ दिसम्बर १८५३ में बनारस कालेज के अन्तर्गत हिन्दुओं की संख्या ३०७ तथा बरेली के कालेज में २०८ थी। किन्तु उनमें से एक भी विद्यार्थी हिन्दी स्वतन्त्र विषय के रूप में नहीं पढ़ता था। वही हालत उर्दू की भी थी जबकि बनारस में १९ तथा बरेली में ७४ विद्यार्थी मुसलमान थे। बरेली कालेज में अँग्रेजी तथा उर्दू लेकर शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की संख्या १७५ थी जबकि हिन्दी और संस्कृत लेकर एक भी नहीं थे। मैंने ऊपर ही कहा है कि इन कालेजों में २०८ हिन्दू तथा ७४ मुसलमान थे। हिन्दुओं का अँग्रेजी तथा उर्दू के प्रति अनुराग इसी नीति का परिणाम है।

बनारस कालेज के अन्तर्गत अँग्रेजी और उर्दू साथ पढ़ने वाले ९३ विद्यार्थी, अँग्रेजी तथा हिन्दी या संस्कृत पढ़ने वाले ९० विद्यार्थी थे। यहाँ भी हिन्दुओं की संख्या ३०७ तथा मुसलमानों की १९ थी।

हिन्दी प्रदेश की जनता की स्वयं अपनी भाषा की यह अपेक्षा और उर्दू तथा अँग्रेजी के प्रति अनुराग का कारण कम्पनी की नीति ही है। भाषा का विकास भी बहुत कुछ आर्थिक कारणों पर निर्भर करता है। उपरिलिखित आंकड़े जाति-विशेष के साथ भाषा के अध्ययन का सम्बन्ध जोड़ने वाले को पुन: सोचने को बाध्य करते हैं। उर्दू और अँग्रेजी के अध्ययन से ही लोगों को सरकारी नौकरियों में प्रवेश मिल सकता था। और उस समय क्या आज भी अधिकांश विद्यार्थियों की शिक्षा का ध्येय ही सरकारी नौकरी प्राप्त करना होता है। इसलिये हिन्दी के प्रति लोगों की यह उपेक्षा-भावना कोई आश्चर्यजनक नहीं। किन्तु इस उपेक्षा का परिणाम हिन्दी के विकास के पक्ष में पर्याप्त रूप में घातक सिद्ध हुआ। बहुत सा अमूल्य समय और परिश्रम जो हिन्दी भाषा और साहित्य को समृद्ध करने में व्यय होता, कम्पनी की नीति जानकर जनता की इस उपेक्षा-वृत्ति को दूर करने में लगाना पड़ा। अपनी भाषा के प्रति इस उपेक्षा को दूर करने की आवश्यकता कितनी तीव्र हो गई थी, उस समय के हिन्दी साहित्य में पर्याप्त रूप से देखी जा सकती है। और समूचे भारतेन्दु युग के "निज भाषा उन्नति अहै निज उन्नति कौ मूल" में समाहित जातीय-चेतना के उदात्त-स्वर का अध्ययन और सही मूल्यांकन हिन्दी भाषाभाषियों की हिन्दी भाषा के प्रति इसी उपेक्षा-भावना की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रखकर किया जा सकता है।

अम्बाशंकर नागर

मीराँ के गुजराती पद

राजस्थान और गुजरात की जनता ने मीराँ को जितना समझा और सराहा है उतना संभवत: अभी हिन्दी-भाषा-भाषियों से नहीं बन पड़ा। वैसे मीरां और उसकी अमर वाणी किसी एक प्रदेश की संपत्ति नहीं है, वह संपूर्ण भारतवर्ष की एक अमूल्य थाती है। बँगाल से लेकर गुजरात और बद्रीविशाल से लेकर रामेश्वरम् तक उसकी वाणी का प्रसार है। बँगाल, मराठी, सिंधी, पंजाबी आदि अहिन्दी-भाषियों ने तो मीराँ को स्वभाषा के कवियों से भी अधिक मान दिया है। दक्षिण के तमिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़ भाषी प्रदेशों में जहाँ भाषा की भिन्नता के कारण हमारे अन्य कवि नहीं पहुँच पाये हैं, वहाँ भी मीरां का नाम श्रद्धा और भक्ति के साथ लिया जाता है। मीरां के व्यक्तित्त्व और उसकी वाणी में कुछ सम्मोहन ही ऐसा है कि जिसके सामने भाषा, संप्रदाय और प्रांतों के प्राचीर डगमगा जाते हैं।

मीराँ के संबंध में न जाने क्यों हमारे साहित्य-मनीषियों की उदासीनता अभी तक ज्यों की त्यों बनी हुई है। अभी तक हमारे पास मीरां के पदों का एक भी ऐसा संग्रह नहीं है जिसे पूर्णतया प्रामाणिक कहा जा सके। यह सच है कि जब तक कोई हस्तलिखित प्रति मीरां के पदों की न मिल जाय, पदों का ठीक-ठीक संपादन नहीं किया जा सकता[1] और यदि किया जा सकता है तो उस पर प्रामाणिकता की मुहर नहीं लग सकती; पर इस तरह हाथ पर हाथ धरकर बैठने से काम नहीं चल सकता। मीरां के संबंध में पर्याप्त खोज की आवश्यकता है।

अब तक के संग्रहों में बेलवेडियर प्रेस का संग्रह प्रामाणिक कहा जाता है, पर उसमें केवल १६८ पद हैं। अन्य संग्रहों में पदों की संख्या २००-२५० तक भी देखने में आई है, पर राजस्थानी और गुजराती भाषाओं से अनभिज्ञ होने के कारण बहुत से संपादकों से पाठ में भयंकर भूलें हुई हैं।

---

१. "जब तक मीरां के पदों की कोई हस्तलिपि प्रति नहीं मिल जाती तब तक पदों की पाठ शुद्धि या उनका संपादन करना मेरे मत से अनुचित है।"

'मीरां की प्रेम वाणी'—कंटक

इस दिशा में श्री परशुराम चतुर्वेदी और श्री नरोत्तम स्वामी के प्रयत्न निःसंदेह स्तुत्य हैं। पर इन महानुभावों ने भी उपलब्ध सामग्री को जनता के सामने रखकर ही संतोष कर लिया है। अतएव मीरां के पदों के संबंध में खोज की आवश्यकता अभी ज्यों की त्यों बनी हुई है।

कुछ समय पहले जयपुर के पु० हरिनारायणजी ने मीरां के ५०० पदों का एक संग्रह तैयार किया था जो दुर्भाग्यवश उनके जीवन काल में प्रकाशित नहीं हो सका और अब उसके प्रकाश में आने की कोई आशा शेष नहीं है। इसी प्रकार सुनने में आया है कि काका साहब ने भी मीरां के लगभग ५०० पदों का एक संग्रह अपनी देखरेख में तैयार करवाया था पर वह भी किसी ऐसे आदमी के हाथों कि आज कहाँ और किस अवस्था में है कुछ पता नहीं।[२]

दूसरी ओर मीराँ के पदों के सम्बन्ध में विद्वानों की कुछ इस प्रकार की धारणाएँ बन गई हैं—

"सब मिलाकर भी मीरां के नाम से प्रचलित पदों की संख्या अधिक नहीं है। संभवतः गुजराती पदों को मिलाकर भी संख्या ४०० के ही लगभग पहुँचेगी। इन थोड़े पदों में भी मीरां के रचित पद थोड़े ही हैं। अधिकांश पदों की प्रामाणिकता में बहुत संदेह है।"

—डॉ० कृष्णलाल 'मीरांबाई'।

इसी प्रकार "राजस्थानी भाषा और साहित्य" में पू० श्री मोतीलालजी मनारिया ने लिखा है "कुल मिला कर मीरां के पदों की संख्या २००–२५० से अधिक नहीं है।"

हो सकता है, मीराँ के प्रमाणिक पद इतने ही हों। मेरा आग्रह तो केवल इतना है कि जो अप्रामाणिक पद हैं, उन्हें भी एक बार कसौटी पर कसकर परख तो लिया जाय। मेरी अब तक की खोज के आधार पर मीरांबाई के ५०० से कहीं अधिक पद यत्र-तत्र बिखरे हुए मिले हैं, जिनमें से लगभग १२५ पद गुजराती साहित्य की संपत्ति बने हुए हैं।

यदि यह मान लिया जाय कि गुजराती पदों की रचना करने वाली मीरां भी वही मीरां है तो कोई कारण नहीं है कि मीरां के गुजराती पदों में इन पदों को न जोड़ा जाय।

अब यह सिद्ध हो चुका है कि मीरां के जीवन के अन्तिम दस-पन्द्रह वर्ष गुजरात में बीते। गुजराती भाषा और साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान् के० का० शास्त्री[१] और श्री

---

२. काका साहब के साथ हिन्दुस्तानी प्रचार का काम करने वाले श्री नरेश मंत्री के पत्र के आधार पर।

१. मीरांबाई सं० १५८८ पछी मेवाडमां के मारवारडमां रही होय तेवुं जणातुं नथी × × × × मीरांबाई सं० १५८८ लगभग द्वारकागयेली अने त्यांज अेणे पोतानू शेष जीवन गाळयु संभवेछे।"

—'कवि चरित' भाग १ पं० केशवराम का० शास्त्री

तारापुरवाला[२] ने भी इसे स्वीकार किया है तथा मीरां के एक गुजराती पद[३] से भी इसकी पुष्टि होती है ।

अतः मीरां ने गुजरात में रहकर यदि अपने आराध्य के गुणों का गान गुजराती में किया हो तो, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं । आज भी राजस्थानी और गुजराती भाषा में अधिक अन्तर नहीं है । राजस्थानी-भाषा-भाषी तो एक-दो साल में ही काम चलाऊ गुजराती बोलने लगता है । और फिर १६वीं शताब्दी में तो यह भाषा-भेद नहीं के बराबर रहा होगा । डाक्टर टैसीटरी के मतानुसार उन दिनों गुजरात और राजस्थानी की एक ही भाषा थी, जिसे उन्होंने "प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी" कहा है ।

मीरां का जन्म राजस्थान में हुआ । श्री कृष्ण के क्रीडा-स्थल ब्रज-मण्डल के प्रति भी मीरां के हृदय में अत्यधिक मोह रहा । जीवन के अन्तिम दस-पन्द्रह वर्ष उन्होंने गुजरात में बिताये, जहाँ द्वारकापुरी में श्री रणछोड़ के चरणों में ही उनका स्वर्गवास हुआ । इस प्रकार राजस्थान, ब्रज और गुजरात इन तीनों प्रदेशों से मीरां का निकट सम्बन्ध रहा है । यही कारण है कि मीरां ने राजस्थानी, ब्रज और गुजराती इन तीनों ही भाषाओं में रचनाएँ की हैं । यहाँ पर हम मीरांबाई पर गुजराती कवि के रूप में संक्षेप में विचार करेंगे ।

जिस प्रकार विद्यापति पर बंगाली-भाषा-भाषी अपना अधिकार मानते हैं, उसी प्रकार मीरां को गुजराती-भाषी अपना कवि मानते हैं । मीरां और नरसी की गणना गुजराती के आदि कवियों में की जाती है । गुजराती-भाषी मीरां को अपना कवि कहने में एक प्रकार के गौरव का अनुभव करते हैं । मीरांबाई की भूमिका में पं० भानुसुखराम निगुणराम महेता लिखते हैं—

"यह विदुषी बाई मूल गुजरात की तो नहीं थी लेकिन इसके बहुत से पद गुजराती भाषा में हैं । इससे उसे गुजराती कवि के रूप में हम गिनते हैं । इतना ही नहीं, उसके लिये हम अभिमान का भी अनुभव करते हैं ।"[१]

---

२. "But her Last earthly home was Dwarka, also closely knit with the name of krishna. Her last days were passed with fullest enjoyment of peace and in the worship of her beloved god"—Classical Gujrati Literature, Vol I.

३. 'सांढवाला सांढ शणगारजेरे, जाऊँ सोसेरे कोश ।
राणाजीरा देश मांरे मारे, जळरे पीध्वानो दोष ।
डाबो मेल्यो मेवाडरे, मीरां गई पच्चिम मांय ।
सरब छोडी मीरां नीसर्यां, जेनू मायामां मनडून कोय ।'

१. "आ विदूषी बाई तळ गुजरातनी तो नहती तथापि तेना घणा पदो गुजराती भाषामां छे, तेथी अेने गुजराती कवि तरीके आपणे गणिये छिये, ऐटलूंज नहीं पण तेने माटे आपणे अभिमान पण धराविये छिये ।"

—भानुसुखराम निर्गुणराम महेता 'मीरांबाई' ।

इसी प्रकार 'वृहत् काव्य दोहन' की भूमिका में रा० रा० तन सुखराम मनसुखराम त्रिपाठी लिखते हैं:—

"मीरांबाई का संपर्क जन्म के कारण मारवाडी से, विवाह के कारण मेवाडी से, वृन्दावन निवास के कारण ब्रजभाषा से तथा द्वारका में रहने के कारण गुजराती भाषा से स्थापित हुआ था। अतएव चारों भाषाओं का तथा किसी-किसी एक ही पद में चारों भाषाओं का संमिश्रण इनकी रचनाओं में देखने में आता है। इनमें मारवाडी भाषा, गुजराती तथा हिन्दी के एकजातीय मिश्रण के समान है। इसलिये मीरांबाई की कविता के गुजराती तथा हिन्दी-इस प्रकार केवल दो ही भाषा-मूलक भेद किये जा सकते हैं।"[१]

और गुजराती साहित्य के इतिहासकार श्री कृष्णलाल जवेरी 'माइल-स्टोन्स ऑव गुजराती लिटरेचर' में मीरां को गुजराती का कवि मानते हुए लिखते हैं:—

"मीरांबाई जन्म से गुजराती नहीं थी, और उसने द्वारका आने के बाद ही गुजराती सीखी होगी।[१]"

इन उद्धरणों से मेरा अभिप्राय केवल इतना ही है कि मीरां के अन्तिम दिन गुजरात में बीते हैं। हिन्दी के साथ-साथ गुजाराती में भी उसने रचनाएँ की हैं। वह हिन्दी की ही कवि नहीं, गुजराती की भी श्रेष्ठ कवि है। भाषा और लिपि-भेद के कारण मीरां के गुजराती पद हिन्दी-भाषियों के सामने अभी तक नहीं पहुँचे हैं। पर अब भारतीय भाषाओं के ये अभेद्य प्राचीर ढहते जा रहे हैं। अब हम अन्य प्रादेशिक भाषाओं के अंचल में छिपी साहित्य-संपदा की अधिक अवहेलना नहीं कर सकते। और फिर मीरां के पद तो हमारे ही हैं।

मीरांबाई के गुजराती पद निश्चय ही मीरां के काव्य की प्रौढ़ता के परिचायक हैं। भाषा और भाव की दृष्टि से भी वे अत्यन्त सरस और सुमधुर हैं। भक्ति की आधार-भूमि पर तन्मयता, भावुकता और संगीतात्मकता का जो अपूर्व समन्वय इन पदों में देखने को मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। रसास्वादन के लिये मीरां के कुछ गुजराती पद यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

---

१. "मीरां बाईनों सम्बन्ध जन्मादि कारण थी मारवाडी, विवाह कारण थी मेवाडी, वृन्दावन निवास कारण द्वारा व्रज भाषा साथे, तथा द्वारका मां स्थिति निमित्त गुजराती भाषा जोड़े थयो हतो। तेथी चारे भाषाओमां तेमज कोई-कोई पदमा ओ चारेनूं मिश्रण जोवामा आवे छे। तेमा मारवाडी भाषा, गुजराती तथा हिन्दी ना एकजातीय मिश्रण जेवी छे। तेथी तेनी कविता गुजराती तथा हिन्दी ऐम मात्र बेज विभाग भाषा-मूलक सुखे थइ शके।"

रा० रा० तनसुखराम मनसुखराम त्रिपाठी 'वृहत् काव्य दोहन'।

१. Mira was not a born Gujrati and she must have acquired the knowledge of Gujrati after she came to Dwarka" —K. M. ZAVERI

(१)

भक्ति

मुखडानी[1] माया लागी[2] रे, मोहन प्यारा ।। टेक ।।
मुखडुं में जोयुं[3] तारुं,[4] सर्व जग थयुं[5] खारुं ।
मन मारुं, रह्युं[6] न्यारुं रे; मोहन प्यारा ।।
संसारी नु सुख एवुं,[7] झाँझवाना नीर जेवुं[8] ।
तेने[9] तुच्छ करी फरीए रे; मोहन प्यारा ।।
संसारीनुं सुख काचुं, परणी ने रंडावुं पाछुं ।
तेने घेर शिद[10] जइये रे; मोहन प्यारा ।।
परणूँ तो प्रीतम प्यारो, अखंड सौभाग्य मारो[11] ।
रांडवानो भे टाल्यो रे[12]; मोहन प्यारा ।।
मीराँबाई बलिहारी, आशा मने एक तारी[13] ।
हवे हुँ तो[14] वड़भागी रे, मोहन प्यारा ।।

[हे मोहन प्यारे ! मुझे तेरे मुख की माया लगी है । जब से मैंने तेरा मुँह देखा है, यह संसार मुझे खारा लगता है, मेरा मन सबसे न्यारा हो गया है । संसारी का सुख मृगतृष्णा के समान है, इसे तुच्छ समझकर हम विचरें । संसारी का सुख कच्चा है, परणवे पर फिर रंडापा मौजूद है ! फिर ऐसे घर हम जायें ही क्यों ? परणूं तो मैं केवल प्रीतम प्यारे को, वही मेरा अखंड सौभाग्य है । उसने रंडापे का भय टाल दिया है । मीरां कहती हैं, हे मोहन प्यारे ! मैं तुझ पर बलिहारी हूँ, मुझे केवल तेरी आशा है । अब मैं निश्चय ही बड़भागी हूँ ।]

(२)

विरह

कानुडे न जाणी मारी पीर; बाई हूँ[1] तो बाळ कुंवारी[2] रे।। कानुडे।।
जलरे जमुनानां अमे[3] पाणीडां गया तां[4] वाला[5] कानुडे उडाड्यां[6] आछा[7] नीर;
उड्यां फर रर रर रर रे ।।कानुडे।।
वृंदारे वनमां वा' ले[8] रास रच्यो छे, सोळ सें गोपीनां ताण्यां[9] चीर;
फाट्यां चर रर रर रर रे ।।कानुडे।।

---

१. मुंह की २. माया लगी, प्रेम हो गया ३. देखा ४. तेरा ५. हुआ ६. रहा ७. ऐसा ८. मृगतृष्णा के जैसा ९. उसे १०. क्यों ११. मेरा १२. विधवा होने का भय टाल दिया १३. तेरी १४. मैं तो ।

१. मैं २. बाल कुआँरी ३. हम ४. गये थे ५. प्रिय ६. उड़ाया ७. फुहार की तरह का ८. प्रिय ने ९. खींचे ।

हुं वरणागी[१०] का' ना तमारा[११] नामनी रे, कानुडे मार्याछे अमने[१२] तीर;
वाग्यां[१३] अर रर रर रर रे ।।कानुडे।।
बाई मीरां के प्रभु गिरधर नागर, कानुडे बाळीने फेंकी[१४] ऊंचे गीर[१५];
राख उडे फर रर रर रर रे ।।कानुडे।।

[श्री कृष्ण ने मेरी पीड़ा नहीं जानी । हे सखी, मैं तो बाल कुंआरी हूँ । हम जमुना का जल भरने गई थीं । प्यारे श्री कृष्ण ने हम पर थोड़ा पानी छांटा । पानी फर फर करके उड़ा । वृंदावन में प्यारे श्री कृष्ण ने रास रचा, सोलह सौ गोपियों के चीर खींचे । चीर चर चर करके फटे । श्री कृष्ण, मैं तो तुम्हारे नाम के पीछे दीवानी हो गई हूँ । तुमने हमारे तीर मारे हैं । वे तीर अर रर करके हमारे लगे हैं । मीरां के प्रभु गिरधर नागर हैं । उन्होंने जलाकर राख पर्वत पर फेंक दी है । राख फर फर करके उड़ती है ।]

(३)

मिलन की आकांक्षा

माछीडा[१] होडी[२] हंळकार[३] मारे[४] जावु प्रभु मळवाने ।।टेक।।
प्रभु मळवाने वा' ला हरि मळवाने । माछीडा होडो० ।।
तारी होडली ने हीरले जडावु[५], फरथी मुकावु[६] घूवर माळ[६]।
सोनैया आपु[७] रुपैया आपु, आपु हैया केरो हार ।।मारे जावु।।
आणी[८] तीरे गंगा पेली[९] तीरे जमुना, वचमां[१०] वसे नंदलाल ।
कालिंदीने तीरे धेनु चरावे वा' लो बनी गोपाल ।।मारे जावु।।
वृंदावननी कुंजगलीमाँ गोपी संग रास रमनार[११] ।
बाई मीरां कहे गिरधर नागर कृष्ण जी उतारो पेले पार ।।मारे जावु।।

[हे मांझी, तू अपनी नाव ले चल । मुझे प्रभु से मिलने जाना है । प्रभु से, मेरे प्यारे हरि से मिलने जाना है । तेरी नाव को मैं हीरों से जड़ाऊँगी, चारों ओर घुघरुओं की माला लगाऊँगी । मैं तुझे सोना दूँगी, रुपया दूँगी, यहाँ तक कि आवश्यकता पड़ने पर हृदय का हार भी दे डालूँगी । इस तरफ गंगा है, उस तरफ यमुना है, बीच में नंदलाल बसते हैं । कालिंदी के तट पर प्यारा नंदलाल ग्वाला बनकर धेनु चराता है । वह वृंदावन की कुंजगलियों में गोपियों के साथ क्रीड़ा करता है । मीरा बाई कहती है हे गिरधर नागर, हे श्री कृष्ण, मुझे उस पार उतारिये ।]

---

१०. मुग्ध हो गई ११. तुम्हारे १२. हमें १३. लगे १४. जलाकर फेंकी १५. गिरि, पर्वत ।

१. मांझी २. नाव ३. हाँक ४. मुझे ५. लगाऊँ ६. घुंघरुओं की माला ७. दूं ८. इस ९. उस १०. बीच में ११. खेलने वाला ।

(४)

रहस्य दर्शन

ऊँचा ऊँचा आभमां[1] ने ऊँचा ऊँचा डूँगरानी[2]
ऊँडीरे गुफामां[3] मारो[4] दीवडो बळे[5] रे; दीवडो—
लाख लाख चंदा चळके[6] कोटि कोटि भानु रे
दीवडा अगाडी मारा झांखा[7] पडे रे; झांखा पडे-
झरमर झरमर बरसे मोतीडांनो[8] मेहूलो रे
सूरता[9] अमारी अ तो झीलवा[10] पडे रे; झीलवा-
बाई मीरा कहे प्रभु गिरधर ना गुण
सतगुरु दीधो मारो दीवडो बळे रे; दीवडो—

[ऊँचे-ऊँचे आसमान में और ऊँचे-ऊँचे पर्वत की गहरी गुफा में मेरा दीपक जल रहा है। लाख-लाख चन्द्रमा और कोटि-कोटि भानु चमक रहे हैं; पर वे सब मेरे दीपक के सामने फीके मालूम होते हैं। झरमर-झरमर मोतियों का मेह बरसता है। हमारी लगन उस मेह को झेलती है। मीरांबाई गिरधर के गुण गाती है। हे सतगुरु, आपका दिया मेरा दीपक जल रहा है।]

(५)

गरबी

बोल मा[1] बोल मा बोल मा रे, राधा कृष्ण बिना बीजु[2] बोल मा ॥टेक॥
साकर[3] सेरडीनो[4] स्वाद तजी ने, कडवो लींबडो[5] घोळ मा रे; राधा०
चांदा सूरज नु तेज तजी ने, आगिया[6] संगा थे प्रीत जोड मा रे; राधा०
हीरा माणेक झवेर तजी ने, कथीर[7] संगा थे मणि तोल मा रे; राधा०
मीरां कहे प्रभु गिरधर नागर, शरीर आप्युं सम तोलमां मा रे; राधा०

[राधा कृष्ण के सिवा और कुछ मत बोल। मिस्री और गन्ने के स्वाद को छोड़कर कड़ुआ नीम मत घोल। चांद और सूर्य के प्रकाश को छोड़कर जुगनू के प्रकाश के साथ प्रेम न कर। हीरे 'माणिक और जवाहरातों को छोड़कर कथीर के सारे मणियों को मत तौल। मीरा कहती है' हे गिरधर नागर! मैंने अपना शरीर सम तौल में अर्पित किया है—घाटे का सौदा नहीं किया है!]

---

१. आकाश में २. डूंगर की ३. गुफा में ४. मेरा ५. जले ६. चमकता है ७. फीका पड़ना ८. मोतियों का ९. लगन १०. झेलना ११. दिया हुआ।

१. मत २. दूसरा ३. मिस्री ४. गन्ना ५. नीम ६. जुगनू ७. रांगा।

गोपीवल्लभ नेमा
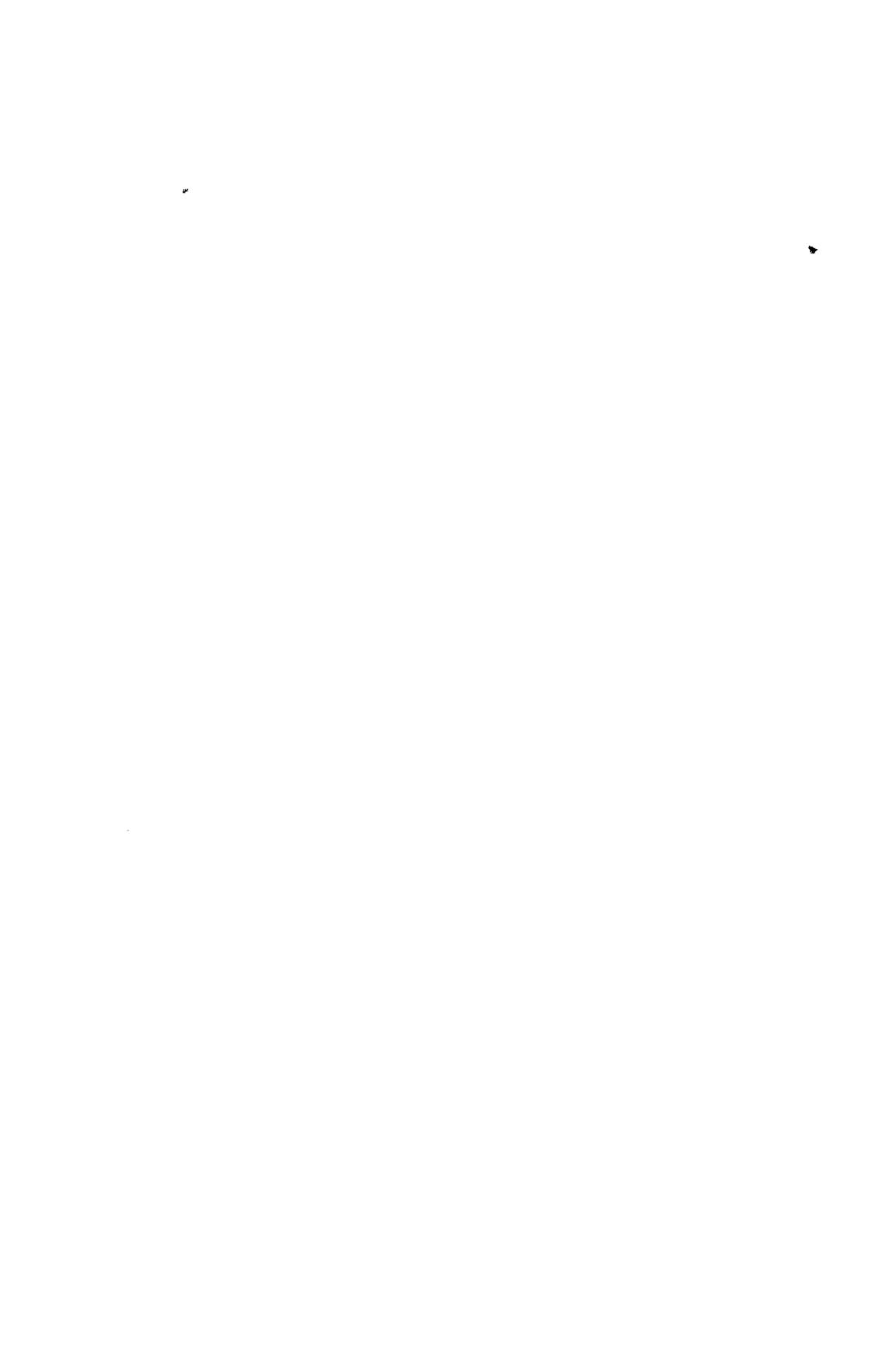
रामानंदी संप्रदाय का सामान्य परिचय

पूर्वाभास

विक्रम की १४वीं शताब्दि का उत्तर भारत पराधीन एवं विश्रंखल भूभाग था। खिलजी राजवंश (१२६०-१३२०) और तुगलक राजवंश (१३२०-१४१२) का उस पर कठोर नियंत्रण रहा। देवगिरि नरेश एवं हमीर के पराभव के बाद राजपूती शान कुंठित हो चुकी थी। खिलजी और तुगलग वंश के बादशाहों ने धार्मिक स्वतंत्रता पर कड़े बंधन लगा रखे थे। राजनैतिक कारणों से लोग धर्म को बेच कर प्रतिष्ठित एवं धनी बन रहे थे। भारत के सभी आक्रमणकारियों में मुसलमान ही केवल ऐसे थे जिन्होंने भारत के विरुद्ध धर्म-युद्ध घोषित किया। उनमें अत्यधिक धार्मिक चैतन्यता थी। पर भारत के धार्मिक क्षेत्र में भी सस्ते मतवाद का बोलबाला था। कनफटे योगी श्रद्धालु जनता को भूलभुलैया का खेल खिला रहे थे। वर्ण विषमता के कारण धर्म सवर्णों की अनैतिकता की ढाल बन गया था।[1] निम्न वर्ण की श्रद्धा को ढूढ़ने पर भी आधार नहीं मिलता था।

इस ओर केवल एक आशाजनक चिह्न था। देश में उस काल में भी साहित्यिक प्रवृत्तियां जागरूक थीं। जयदेव और आलवारों का साहित्य अपने माधुर्य के कारण लोगों के समक्ष आ चुका था। रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य एवं विष्णुस्वामी के संदेश एक परंपरा के निर्माण की ओर संकेत कर रहे थे। रामायण एवं भागवत का पुनः पुनः पठन-पाठन होता था। रामायण के भावमय प्रसंगों को लेकर नवीन रचनाओं के निर्माण की प्रवृत्ति परंपरा से ही चली आ रही थी। श्रीमद्वाल्मीकि रामायण के बाद रचित अनेक रामायणों की चर्चा श्री रामदास गौड़ ने 'हिन्दुत्व' नामक ग्रंथ में की है।

---

१. मुसलमानों के आने के कारण भारतीय सामाजिक जीवन में दासता की अवांछनीय प्रथा घर कर गई थी।……जुआ खेलना, शराब पीना इस युग में सामान्य दुर्गुण हो गये।…हिन्दुओं के जीवन से गतिशीलता, प्रवाह व प्रगति विलुप्त हो गई और उनमें निर्जीवता घर कर गई।

'भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का विकास', पृष्ठ ३३४-३३५ प्रो० लूनिया १९५५।

वेबर रामतापनीयोपनिषद को ११वीं शताब्दि में रचित मानते हैं। यह ग्रंथ रामभक्ति के साधनापरक ग्रंथों में से एक है। श्रीराम के परत्व की व्याख्या श्रीमद्वाल्मीकि के पश्चात इसमें स्पष्टतः की गई है।

इस विवेचन से हमारा अभीष्ट इतना ही है कि इस संक्रांति युग में मानवीय आदर्शों में विश्वास जमाने के लिए उत्तर भारत को एक रामानुजाचार्य की और आवश्यकता बनी रही। स्वामी रामानंद के आविर्भाव से इस अभाव की पूर्ति संभव हुई। उन्होंने ब्रह्म राम के साहित्यिक एवं धार्मिक प्रतिपादन की प्रवृत्ति को एक समाज का आकार प्रदान किया और ब्रह्म राम की लीलाभूमि से मर्यादा और परम-तत्व की घोषणा की।

स्वामी रामानंद का समय-निर्णय

स्वामी रामानंद के अवतरण काल संवत् १३५६ वि० को लक्षित कर संप्रदाय में रामानंदाब्द का व्यवहार चल पड़ा है। जेम्स हेस्टिंग्स[२] एवं डा० श्रीकृष्णलाल[३] इस जन्म तिथि का समर्थन करते हैं। किन्तु श्री फर्कुहर और प्रोफेसर श्री बलदेव उपाध्याय निम्न—तर्कों के आधार पर स्वामीजी का जन्म ईसा की १५वीं शताब्दि निश्चित करते हैं—

१—भविष्यपुराण में सिकंदर लोदी के अत्याचारों के प्रसंग में 'रामानंद प्रभावितः' शब्दों का प्रयोग रामानंद को सिकंदर लोदी का समकालिक सिद्ध करता है।

२—रामानंदजी के शिष्यों के जीवनकाल के आधार पर।

स्वामीजी के जीवन चरित्र के विद्वान लेखक डा० श्रीकृष्णलाल ने युक्तियुक्त आधारों पर उनके दीर्घ जीवन काल को १३५६ वि० से १४९१-९२ वि० तक स्वीकार किया है। स्वामीजी के दीर्घायु होने का प्रमाण नाभाजी की निम्न पंक्ति से मिलता है—

बहुत काल बपु धारि कै, प्रणति जनन कौ पार दियौ।

बहुत संभव है कि भविष्यपुराण में कथित रामानंद का प्रभाव शिष्यों के माध्यम से कार्य कर रहा हो। इसी प्रकार स्वामीजी के दीर्घ जीवन के कारण (१३६ वर्ष) शिष्यों के एक शताब्दि तक फैले जीवनकाल का निर्वाह भी स्वाभाविक है। अतः १३५६ वि० से १४९१-९२ तक का जीवनकाल स्वामीजी से संबंधित उपर्युक्त दोनों तथ्यों को भी अपना लेता है।

जीवन एवं कृतित्व

स्वामी रामानंद प्रयाग निवासी पुण्यसदन एवं सुशीला देवी नामक कान्यकुब्ज दंपति की संतान थे। उन्हें अपने गुरु राघवानंदजी से जो ज्ञान प्राप्त हुआ था वह औपनिषदिक शैली में था। उसे स्पष्ट करने के लिए, सुलभ एवं नियम बद्ध रूप में रखने

२. एनसायक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, जिल्द दसवीं।

३. 'रामानंद की हिन्दी रचनाएँ' पृष्ठ ४०, संपादक डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, सं० २०१२।

के लिये आपने जो प्रयत्न किये वे किसी को भी संप्रदाय-प्रवर्त्तक का पद दिलाने में समर्थ हैं।

स्वामीजी के द्वारा रचित संस्कृत रचनाएँ सम्प्रदाय की संहिताएँ कही जा सकती हैं। उनमें से श्री वैष्णव मताब्जभास्कर एवं रामर्चन पद्धति आज भी प्राप्य हैं। उनकी हिन्दी रचनाओं को लेकर विद्वानों में मतभेद है। एक ओर संस्कृत रचनाओं में जो दार्शनिक मत प्रतिपादित हुआ है उसका हिन्दी रचनाओं में सर्वथा अभाव है। दूसरी ओर संस्कृत रचनाओं में पुष्ट प्रेम तत्व हिन्दी रचनाओं में भी उभरा हुआ दिखाई देता है। हिन्दी रचनाओं में योगपरक वाणियों के साथ हनुमान की आरती को स्थान मिला है। ये योगपरक रचनाएँ प्रायः निर्गुणी पंथी स्रोतों से उपलब्ध हुई हैं अतः उन पर वैसा ही रंग चढ़ जाना स्वाभाविक है। स्वामीजी के बारह प्रधान शिष्यों में भी प्रेम तत्व की समानता एवं दार्शनिक तत्व की असमानता विद्यमान थी। अतः उन्होंने दृष्टिकोण-विशेष से ही स्वामीजी के उपदेशों का आकलन किया हो तो क्या आश्चर्य है।

वैष्णव मताब्जभास्करकार आचार्य ने प्रस्थान उपनिषद्, गीता एवं ब्रह्मसूत्र के परम्परा-पुष्ट-आधार को ग्रहण कर युगानुरूप उदाराशयी प्रवृत्तियों को अपने सम्प्रदाय में स्थान दिया। स्त्रियों और शूद्रों को वैष्णवत्व एवम् शिष्यत्व प्रदान कर आचार्य-पाद ने वैष्णव की परिभाषा में से सभी सीमाओं को तोड़ फेंका और 'जात पांत पूछे नहीं कोई। हरि को भजे सो हरि को होई ॥' की भावना का निर्माण किया।[४]

आराध्य

उनके आराध्य हैं सीतानुज सहित द्विभुज धनुर्धर राम।[५] राम की इस झांकी को आराध्य मान कर चलने वाला उनका सम्प्रदाय उत्तरी भारत ही नहीं, समस्त भारत में प्राचीनता एवम् भाव-बहुलता में आज भी अद्वितीय है। सीताजी की आद्य गुरु के रूप में और लक्षमण जी की आदर्श भक्त के रूप में इस सम्प्रदाय में प्रतिष्ठा है। साधनात्मक दृष्टि से इन स्वरूपों में भगवान, गुरु और पूर्ण भक्त की भावना-मय एकरूपता उद्भासित होती है। पूर्ण भक्त की शेष वृत्ति को ऐसा अशेष वैभव इसी सम्प्रदाय में प्रदान किया गया है।

इस त्रैत रूप में और ईसाई उपासकों की ट्रिनिटी (फादर, सन और होली घोस्ट) में अद्भुत साम्य है। वे इस त्रैतात्मकता को सृष्टि एवं जीवन पर भी घटाते हैं। श्री हूपर के अनुसार सभी चीजों में जीवन, आकार और गति है। स्वयं हममें

---

४. श्री वैष्णव मताब्जभास्कर, भगवदाचार्य २००२ वि० पृ० २९ एवं पृष्ठ ५९।

५. प्रसन्न लावण्य सुभिन्मुखांबुजं जगच्छरण्यं पुरुषोत्तमं परम।
सहानुगम् दासरथ महर्जिस स्मरामि रामं सह सीतया सदा ॥
द्विभुजस्यैव रामस्य सर्वशक्तैः प्रियोत्तम्।
ध्यानमेवं विधातव्यं सदा राम परायणैः ॥ ३९ ॥

शरीर, आत्मा और प्रकाश के रूप में त्रैत तत्व है। ये त्रैत एक में और एक जीवन त्रैत में समाहित है।[६]

भक्त

स्वामीजी ने भक्त को प्रपन्न कह कर उसकी स्थिति पर गंभीर विचार किया है। वाल्मीकि रामायण में विभीषण शरणागति प्रसंग में—सकृदेवाय प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते) और गीता में अर्जुन-शोक-प्रसंग में 'शिष्यास्ते हं शाधि मां त्वां प्रपन्नम' से प्रपन्न के भाव का परिचय प्रस्तुत हुआ है। इष्ट के अनुकूल संकल्प, प्रतिकूल संकल्पों का वर्जन, रक्षा में विश्वास, केवल भगवान का वरण, आत्म समर्पण और दीनता ये प्रपत्ति के छह अंग हैं। श्री राम से ऐहिक और पारलौकिक दोनों पद प्राप्य हैं। भगवान ही उपाय भी है और प्रपत्ति रूप उपाय का आश्रय भी है।[७] श्री राम की यह प्रतिज्ञा है :—अभयं सर्व भूतेभ्यो ददाम्ये तद्व्रतं मम—जो वाल्मीकि के माध्यम से प्रपन्नों को आश्वस्त करती है। उपर्युक्त मंत्र संप्रदाय का चरम मंत्र है।

प्रपत्ति को सार्थकता ध्यान संबंध में है। ध्येय का तैल धारावत अविछिन्न चिन्तन ही ध्यान अथवा स्मृति कहा गया है। स्मृति के लिये ही योगमार्गी रचनाओं में सुरति शब्द का व्यवहार हुआ है। कहना नहीं होगा कि यह निर्गुण, सगुण भक्तिशाखाओं का मिलन विन्दु है। गीता में भी ज्ञान को अभ्यास से और ध्यान को ज्ञान से अधिक महत्वपूर्ण निरूपित किया गया है क्योंकि उससे ही सर्व-कर्म-फल-त्याग की भावना, प्रपन्नावस्था आती है।[८]

स्मृति एवं प्रपत्ति (न्यास) में अन्योन्याश्रयी सम्बन्ध है। स्व प्रवृत्ति की निवृत्ति होने पर एकतानता से आराध्य की स्मृति को जगाना इनका संयुक्त कार्य है। अन्तकाल तक मन की यह स्थिति टिक सकी तो साधना सफल हो जाती है।

आराध्य और भक्त के संबंध से पल्लवित साधना का विहंगम रूप निम्न सिद्धान्त भलीभांति निरूपित करते हैं :—

(क) सर्वत्र ब्रह्मदर्शन एवं प्रेम।
(ख) कैंकर्य भावना की प्रमुखता।
(ग) भक्ति के सहकारी रूप में अविद्या नाश हेतु ज्ञान और योग को स्थान।
(घ) वैविध्यपूर्ण भावतत्व (विकासशील सम्प्रदाय की अंतर्भुक्त अन्य धाराएँ)।
(ङ) आचारमूलक बाह्यपक्ष।

(क) सर्वत्र ब्रह्मदर्शन एवं प्रेम

स्वामीजी ने अहिंसा को मूल धर्म माना है। दान, तप, जप, एवं तीर्थ निवास से भी उस कोटि का पुण्य-संपादन नहीं हो सकता जिसे अहिंसा व्रतधारी सहज ही प्राप्त

---

६. द यूनिवर्स आफ ईथर एंड स्पिरिट पृ ६२ हूपर।

७. प्रपन्नायेति पद तस्सूपायस्थान मुच्यते।
उपायत्वं भगवतस्तवेतिपद तस्त था ॥ ४६ ॥ श्री वै० मा० भा० पृ० ३७।

८. गीता १२ अध्याय १२ श्लोक।

करते हैं।[9] समस्त प्राणियों में ब्रह्म की स्थिति वट में बीज की भाँति मानी गई है।[10] अहिंसा का पालन मत-विशेष की चीज नहीं वरन वह भारतीय-संस्कृति की अभिन्न वस्तु है। सन् ईस्वी से ४५० वर्ष पूर्व हिरोडोटस ने लिखा था कि हिन्दुस्तान के सभी योगी और तपस्वी अहिंसा का पालन करते हैं।[11] मन, क्रम, वचन से अहिंसक प्रेम की साक्षात मूर्ति बन जाता है। कण-कण में रम रहे राम से कैसा विद्वेष ? कैसा ताप ? अहिंसा का एवं प्रेम का पालन धर्म का सृजनात्मक पहलू है।

संप्रदाय में जगत को भगवान की दृष्टि से समझने का प्रयत्न किया गया है। संप्रदाय की मान्यता है कि सृष्टि परमात्मा के आनन्द एवं प्रेम की प्रतीक है। यह मान्यता प्रत्येक अनुयायी को समत्व का आचरण सिखाने में समर्थ है। स्वामीजी के अनुसार जिस प्रकार टेढ़े-मेढ़े मार्ग वाली नदियाँ सागर में मिल जाती हैं, उसी प्रकार अहिंसक मनुष्य में सब धर्म निवास करते हैं। उनके युग की फैली दुःख की विभीषिका के लिये ही, अहिंसा रामत्राण औषध न थी किन्तु आज भी उसकी द्विगुणित आवश्यकता है।

अहिंसा-धर्म शारीरिक बल के स्तर उठ कर चलने वाले मनोबली एवं दृढ़ात्मा मानव धर्म का है। इसी कारण उसे प्रथम धर्म का पद प्राप्त हुआ है। अर्चावतार राम, देव-प्रतिमा के रूप में, उपासक के सर्वथा आधीन रह कर, जिस प्रकार उसकी असावधानियों एवं भूलों को क्षमा कर देता है, उसी प्रकार अहिंसक साधक अपने सह-मानवों के कटु व्यवहारों के समक्ष अपने प्रेमपूर्ण भाव बनाये रखता है।

हनुमत-संहिता में भी उपासक की इस भाव-धारा का परिचय निम्न शब्दों में दिया गया है:—

सर्वभूत-दया चैव सर्वत्र सम दर्शनं।
अन्यत्र निंदनचैव स्वेशे स्नेहाधिकं तथा ॥४२॥

दूसरों के दुख दूर करने की इच्छा करना, तदनुसार कार्य में प्रवृत्त होना, सबमें एकात्मता का अनुभव करना, अनिंदा एवं वैष्णवों से अधिकाधिक प्रेम रखना—मुमुक्ष वृत्ति है।

संप्रदाय में एक दूसरे को संबोधन करना हो तो, 'सुनो सीताराम, कहो सीताराम' कहते हैं। 'कितने आदमी हैं' के स्थान पर 'कितनी मूर्तियाँ हैं' कहते हैं। शताब्दियों से यह कथनी-करनी चल रही है। आत्मा में सर्वात्मा का दर्शन करने में सबसे बड़ी बाधा अहं है। जिसमें इस बाधा को पार करने की योग्यता आगई, उसे योगी कहा जाना उचित है।[12] स्वार्थ की जड़ों का परिष्कार होने नवीन पल्लव आध्यात्म की ऊँचाई तक बढ़ जाते

९. श्री वैं० म० भा० श्लोक ११३ पृ० ५१।

१०. उत्तर-राम-तापनियोपनिषद टीका, पृ० ९८, श्री रामकुमार दासजी।

११. महाभारत मीमांसा, पृ० ४६, सी० वी० वैद्य, सं० १९७७, अनुवादक—श्री माधव राव सप्रे।

१२. गीता, अध्याय ६, श्लोक संख्या ३१।

हैं। भावनाओं के विकास में सर्वात्म भाव का अनुभव निहित है। अरविंद के अनुसार केवल अभ्यास द्वारा ही स्वयं आत्मा एवं विश्वात्मा की अभिन्नता जानी जा सकती है। बहुरूपाय की कोई दूसरी भावना साधक के मार्ग में फिर नहीं आ सकती।[१३]

संप्रदाय में सौंदर्य भाव

रामानंदीय दर्शन के अनुसार सृष्टि के अणु-अणु में अणु रूप होकर चेतन तत्व (ब्रह्म) व्याप्त है। अतः इस सृष्टि-प्रक्रिया में सौंदर्य की आत्मा सहज ही उतर आई है। यह सौंदर्य अनुभव के माध्यम से संवेदनीय बनता है। आचार्यजी के युग में सौंदर्यानुभूति दिव्य से मानव, एवं मानव से दिव्य की ओर प्रवाहित हो रही थी। यह तथ्य तत्कालीन साहित्य में भली प्रकार परिलक्षित है। धर्म-भावना ने आकाश के साथ धरती भी समेट ली थी।

राम के परत्व में आध्यात्म एवं रहस्य मिश्रित आकर्षण था और सौलभ्य में मनोवैज्ञानिक। दोनों गुणों का अनिर्वचनीय योग इस संप्रदाय द्वारा प्रस्तुत किया गया। "इस प्रकार लौकिक और अलौकिक सौंदर्यानुभूति के दो पृथक-पृथक क्षेत्र, जो उस युग में खुल गये थे"[१४]—उनका अभिव्यक्तिकरण एक माध्यम से हो सका। सौंदर्यानुभूति के लिये दो बातों की आवश्यकता स्वीकार की गई है—

१—आत्मातिरेक की स्थिति।

२—सहज सामंजस्य।[१५]

स्वयं की सीमा अहं होने के कारण सौंदर्य मानव की एक व्यक्तिगत वस्तु बन जाता है। मानव की भावनाएँ जिनमें ऐसी कोई सीमा नहीं है, इस स्थिति से अपना सहज प्रभाव खो बैठती हैं। लेकिन विशेष क्षणों में जब शुद्ध अहं प्रबुद्ध हो उठता है, व्यक्ति के अनुभव सर्वजनीन हो जाते हैं। उनमें संवेदनीयता आ जाती है। निम्न पंक्तियों में आत्म-विलास विश्वविलास में परिणित होता दिखाई देता है—

सबमें परिपूरन राम न तिल भर खाली।
जित जौहौं जिकिर जमाय वनमाली॥
अंखियन में चश्मा चाह धरे रहु प्यारे।
सब विश्वविलास प्रकाश रूप उजियारे॥

—युगलानन्यशरण

अमरीकी कवि व्हिटमेन के अनुसार सौंदर्य योगायोग की चीज नहीं है। उसकी सत्ता तो जीवन पर टिकी हुई है।[१६] ज्ञानशक्ति, कल्पना और राग के सहयोग से एवं

१३. डिवाइन लाइफ, पृष्ठ सं० २६६ श्री अरविंद।

१४. समालोचना विशेषांक १९५८ में श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी का लेख 'वैष्णव कवियों की सौंदर्योपासना' पृ० सं० ५२।

१५. कम्पेरेटिव इस्थेटिक्स—श्री प्रवासचंद्र, विश्व भारती प्रकाशन, पृ० सं० १०६।

१६. लिट्रेरी क्रिटिसिज्म इन अमेरिका, पृ० १२२, संपादक एलबर्ट डी० वान नास्टेण्ड फार्म बुक्स १९५७ ई०।

उनसे उत्पन्न वृत्ति-सामरस्य से सौंदर्य की सत्ता को वाणी मिलती है। इस वृत्ति को उच्च कोटि के आत्मपरक अनुभव के अंतर्गत रख सकते हैं। संप्रदाय में लीला—सौंदर्य के अनुसंधान के लिये श्रद्धा-भाव और तादात्म्य-लाभ के लिये अंशी-अंश भाव की व्यवस्था देकर इस क्षेत्र में पदार्पण किया है। संसार में यद्यपि सब कुछ सुदर ही सुंदर नहीं है, उसमें यत्रतत्र कुरूपता भी है और मानव-मन दोनों में भेद करना जानता है तथापि भक्त यहां उच्चतर श्रेणी की मनोदशा का परिचय देता है। उसे विद्रूपता में भी आराध्य के रूप का दर्शन होता है।

भक्त की सौंदर्य-साधना व्यवहार में आती रहती है। जगत मे जो कोई आह्लादकारी पदार्थ हैं, रूप हैं, वे सब आनंद के मूल स्रोत से संलग्न कर देने पर पूजा के उपकरण बन जाते हैं। इस भावना के आधार पर संप्रदाय में इन्द्रियानुभवों को (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) पूजा की वस्तु मानने का विधान है।[१७]

(ख) कैंकर्य भावना की प्रमुखता

भक्त और आराध्य के संबंध-स्वरूप पर वैष्णव मताब्जभास्करकार ने पर्याप्त स्वतन्त्रता दी है। तथापि जहाँ प्रधान स्वरूप की बात आई है, वहाँ निम्न पंक्तियों में निश्चयात्मक निर्देश किया गया है :—

प्राप्य प्रापक सम्बन्धिस्वरूपाभिनिरूपणम।
प्रधानाथास्ति तद्यग्म कैंकर्यस्य प्रधानता ॥

४२॥ श्री वै० म० भा०, पृ० ३५।

रां रामायनमः, मंत्र की व्याख्या करते हुए आचार्यवर कहते हैं:—

रामाय पद से भगवान की सत्य स्वरूपता, आनन्दस्वरूपता और चित्स्वरूपता तथा निखिल विश्व की स्वामिता प्रतिपादित होती है। उस चतुर्थी विभक्ति (रामाय) से स्वानुरूप भगवत कैंकर्य की प्रार्थना भी प्रतिपादित होती है।[१८]

जीव, अपनी स्थिति से परिचित होकर परमात्मा से जो अध्यात्म संबंध स्थापित करता है, वह कैंकर्य निष्ठा के अन्तर्गत है। डॉ० सरकार के अनुसार कैंकर्य निष्ठा में दैन्य अनिवार्य तत्व नहीं है। दैन्य के स्थान पर रक्षित का भाव अनवरत साधना का

---

१७. समालोचक विशेषांक—सौंदर्य शास्त्र।

यत्किन्चिन्मानस आह्लादि, यत्रक्वापीन्द्रियस्थितौ।
योज्यते ब्रह्म सद्धाम्नि—पूजोपकारणं हितं त ॥

—तंत्रा० चतु० आ०।

तांत्रिकों व वैष्णवों ने इसीलिये इंद्रिय व मानस जगत को—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, इच्छा, आशा, रति आदि को पूजा का उपकरण स्वीकार किया था और केवल भगवान को इनका लक्ष्य बना कर लीला वर्णन द्वारा कला और साहित्य के क्षेत्र में अद्भुत सृष्टि की थी। 'शैवदर्शन और सौन्दर्यशास्त्र' लेख से—पृ० ८१, लेखक—प्रो० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय।

१८. वैष्णव मा० भा० पृ०, २१३।

संबल बन कर आता है।[१९] रामानन्द[२०] स्वामी ने इन दोनों को प्रपत्ति के लिये आवश्यक माना है। सेवक की प्रार्थना स्वामी को करुणाविगलित कर देती है। दैन्य और ग्लानि अकिंचन की अंजली की शोभा है।

नारदपांचरात्र के अनुसार भी मानवों का उद्धार भूले हुए कैंकर्य की पुनर्प्राप्ति ही से संभव है। वृद्ध हारीत संहिता भी सब भावों के मूल—कैंकर्य भाव का गुणगान इन शब्दों में करती है:—

दास्यमेव परं धर्म्मं दास्यमेव परं हितं।
दास्यैनेव भवेन्मुक्तिरन्यथा निरयं भवेत ।।[२१]

संसार में जितने संबंध हैं, वे सब सेवा के बाने हैं। अतः ईश्वर से संबंध की कल्पना करने पर यदि मनुष्य को सेवा का सहारा लेना पड़े तो कोई आश्चर्य नहीं। लीला-रूप में ब्रह्म राम ने गो-द्विज-मुनि की सेवा का व्रत पालन किया था। राजा राम का क्षात्रोचित भव्य रूप संप्रदाय मे सरकार शब्द से संबोधित किया जाता है। सरकार की महली व्यवस्था में व टहल में योग देने की साधकों को परम आकांक्षा रहती है।

रामार्चन पद्धति में स्वामीजी ने कैंकर्य धर्म को लोक-धर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया है। सभी वर्णों को कैंकर्य उपासना में प्रवेश देकर सभी उपासनाओं से श्रेष्ठता प्रदान की है। देव-प्रतिष्ठा को सहकारी मानकर चलने वाली इस उपासना के फल-स्वरूप भारत के ओर-छोर पर भी कलात्मक एवं भव्य राम-विग्रह के दर्शन होते हैं। इन मंदिरों में अपने हाथ से भी बड़े काम से लेकर झाड़ू लगाने तक का कार्य भक्त करते हैं।

सेवक धर्म को आदर्श रूप में प्रतिपादित करने का श्रेय इस संप्रदाय के हृदयहार स्वामी तुलसीदासजी को है। वे स्वयं एक कैंकर्यनिष्ठ भक्त थे। उनकी आत्मा में बैठा हुआ यह दृढ़ भाव यत्र-तत्र प्रसंगों में उभर उठा है। उन्होंने इस भाव की महत्ता श्री मुख से निम्न शब्दों में प्रगट कराई है—

समदर्शी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ ।।[२२]

तुलसीदासजी जैसी प्रतिभा से प्रभावित आज भी असंख्य अनुयायी कैंकर्य भावना से साधना में लगे हुए हैं। कैंकर्य का आदर्श निम्न पंक्तियों में ध्वनित है।

होई है पूरा उपासक कोई। सियबर को प्रिय जोई।
.... । ....

---

१९. कम्परेटिव स्टडीज इन वेदान्तिज्म-भूमिका, पृ० १०, एम० एन० सरकार, सन् १९२७।
२०. कम्परेटिव स्टडीज इन वेदांतिज्म-भूमिका, पृ० २१३, एम० एन० सरकार, सन् १९२७।
२१. द हिन्दू सिस्टम आफ रिलीजस साइन्स एन्ड आर्ट—पृ० १३०, के० एल० सरकार।
२२. रामचरित मानस, मूल गुटका, गीता प्रेस २०१०—पृ० ४४७।

प्रभु को अधिक जान सबही ते दास भाव नित होई ।
सेवक स्वामी भाव सनातन सदा रहेंगे दोई ।।[२३]

(ग) भक्ति के सहकारी रूप में अविद्या-नाश हेतु ज्ञान और योग का स्थान

वैष्णवमताब्जभास्कर के ये शब्द उदार दृष्टिकोण का परिचय देते हैं:—प्रपन्न होने के बाद चाहे कर्म योग, चाहे ज्ञान योग, चाहे भक्ति योग का अनुष्ठान करे, वै० म० भा०, पृ० १३२ ।

जिस ज्ञान से, जिस कर्म से एवं जिस योग से परमात्मा का प्रकाश मिलता है वह ज्ञान, कर्म एवं ध्यान साधना का अभिन्न तत्व है । भक्ति में व्याकुलता, ज्ञान में शान्ति और कर्म में सजगता का अनुभव करने वाला साधक तीनों को सहेजता है । रामानन्दजी प्रपत्ति समन्वित ऐसी तीनों साधना-भूमियों को साधक के लिये महत्त्वपूर्ण निरूपित करते हैं ।

योग दर्शन में पातन्जलि ने ईश्वर के साक्षात्कार को योग माना है ।[२४] भक्ति दर्शन भी इस सिद्ध भाव को लक्ष्य मान कर चलता है । उसमें जो तैल-धारावत एकतान ध्यान की आवश्यकता पर बल दिया गया है, वह योग का ही एक रूप है । वै० म० भा० में योग के आठों अंगों को पराभक्ति के अंतर्गत रखा है ।

विवेक, निष्कामवृत्ति आलंबन का पुन: पुन: चिंतन, गृहस्थों के लिये पंचमहायज्ञादि का नित्य अनुष्ठान भगवत कैंकर्यादि, क्रिया का पालन, सत्य ऋजुता, दया, दान कल्याण साधन, अहिंसादि का संग्रह, दीनता का परित्याग, संतोषी भाव, इन साधनों से जन्य यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—इन अष्टांगों से युक्त तैल धारावत अविच्छिन्न निरंतर स्मृतिरूप भगवत प्रेम ही परा भक्ति कही जाती है ।[२५]

ज्ञान जीव को उसके शुद्ध बुद्ध स्वरूप की पहचान बताता है । उससे अविद्या (भ्रम) की निवृत्ति हो सकती है । बुद्धि को शुद्ध-बुद्ध-कारिणी के रूप में शांडिल्य भक्ति सूत्र में स्थान दिया गया है ।[२६] बुद्धि शुद्ध न होने पर जीव कर्मों में कर्तृत्व् भोक्तृत्वादि अभिमान उत्पन्न हो जाते हैं, जिनसे वह बद्ध हो जाता है ।[२७] ये सब बंधन देह-संसर्ग से उत्पन्न प्रकृति-बंधन हैं । प्रकृति कार्य और कारण उत्पन्न करती है ।[२८] इसके

२३. विनयामृत पद संख्या २६—काष्ठ जिह्वा देव स्वामी (हस्तलिखित प्रति से) ।
२४. पातन्जलि योग दर्शन, अध्याय १, सूत्र २३—ईश्वर प्राणिधानाब्दा ।
२५. वै० मा० भा० प्रा० १२१ ।
२६. शांडिल्य सूत्र सं० २७—बुद्धि हेतु प्रवृत्तिराविबुद्धेरवघातवत ।
२७. भगवदाचार्य के अनुसार जीव को कर्तृत्व भोक्तृत्वादि अभिमान वाला कहने से शंकरमत के समान अविद्यक अभिमान से तात्पर्य नहीं है, प्रत्युत जीव के स्वाभाविक कर्तृत्व से है । यही अभिप्राय गीता के १३वें अध्याय के २० वें श्लोक में है ।
२८. उपासनातत्व विवेचन, पृ० १२, श्रीबलरामदास ।

अन्तर्गत क्रमश: ज्ञानेंद्रिय-कर्मेन्द्रिय एवं पंचतन्मात्राएँ, पंचमहाभूत और अंतःकरण चतुष्टय आते हैं। इन्हें मनुष्य भूल से अपने कार्य-अंतर्गत समझ लेता है।

हम हम करि दुख सहत अति, विवस मोह मद सार।
भोगहिं निज कृत कर्म फल, फँसि जड़ माया जार।।
—प्रेमलता-बृहद् उपासना रहस्य

ईसाई मत के अनुसार भी भगवान ने विवेक दिया है। उसके ह्रास से वह अविद्या में फंसता है। विवेक के साथ-साथ तुर्यावस्था उसे ईश्वर के साक्षात की ओर ले जाती है। प्रो० होफडिंग के अनुसार केवल समाधि भाव ही अनंत शांति एवं आनंद की छाया मे आध्यात्मिक विकास एवं सफलता की महान कुंजी है।[२९] भक्ति, योग एवं ज्ञान का समन्वय प्रस्तुत करते हुए रामसखे कहते हैं—

ज्ञान दरश वैराग्य रवि भक्ति नजर जब होय।
रामसखे रघुपतिहि मिलहिं तब निज जिय सुख जोय।।[३०]

(घ) वैविध्यपूर्ण भावतत्व

विकासशील संप्रदाय की अंतर्मुक्त अन्य धाराएँ—

नवधादि चिंतनों में मन की रुचि जिस भाव में हो, यदि वह अपने बृहत्तम रूप में साधना में प्रतिष्ठित हो जाय तो, उसके लिये भास्कर में पर्याप्त मान्यता है—

तारकस्य प्रधानर्थस्तत्स्वरूपनिरूपणं।
सत्सम्बन्धानुसन्धान मनु संध्यर्थइष्यते।।
श्री वै० म० भा० पृ० ३३

सेवक-सेव्य भाव, वात्सल्य भाव, सखाभाव एवं कांताभाव एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। प्रभु के प्रति मन का राग ही नाना रूपों में प्रकट होता है। अत: रस रस ही है। शृंगार आदि उसके अंश हैं। भरत की मान्यताओं को अपने पक्ष में रखते हुए अभिनवगुप्त रस का एक वचन में प्रयोग करते हैं।[३१]

भावविकास के दृष्टिकोण से साधक में क्रमशः शांत, कैंकर्य, वात्सल्य एवं कांता भावना का स्फुरण होता है। शांत भाव भावित उपासक को आराध्य से अपने संबंध का निश्चय नहीं रहता। उसकी बुद्धि स्थिर एवं मन समाधिरत रहता है। परंतु अन्य

---

२९. द मिस्टिकल एलीमेंट आफ रिलीजन पृ० २९४, २९७,—बेरन फ्रेडरिक वान ह्यमेल १९०९ ई०।

३०. नृत्य राघव मिलन दोहावली, पृ० १७, राम सखे।

३१. द नम्बर आफ रसाज, पृ० १७६—'न हि रसाद् ऋते कश्चिदर्थ प्रवर्तते' अभिनवगुप्त, श्री वी० राघवन।

भावों में संबंध का रंग गहरा होता चला जाता है ।[32] इस दृष्टिकोण को प्रायः रामानंदी संप्रदायेतर शृंगार रसोपासक अपनाते हैं ।

दूसरे दृष्टिकोण के अंतर्गत भावविकास के उपर्युक्त नियम को स्वीकार नहीं किया जाता है; वरन विकास की चरम सीमा में भी उसी भाव की व्याप्ति मानी जाती है, जिसकी साधक ने रुचिपूर्वक दीक्षा ली है । साधकगण वातावरण एवं अंतः प्रेरणा से प्रेरित होकर अपने भाव के अंतर्गत अन्यभावों का गुंफन करते रहते हैं । अधिकांश रामानंदियों का यह दृष्टिकोण मान्य है ।[33]

केवल शांत भाव को लेकर मतभेद है । बालअली जैसे महान आचार्य शांत रसोपासकों को रूक्ष का विशेषण देते हैं ।[34] कुछ शांत को भी शृंगार के समान रस सिद्ध भाव मानते हैं । ऐसे उपासकों में मुख्य श्री रसरंगमणि एवं श्रीकामदेंद्रमणि हैं ।[35] कामदेंद्रमणिजी ने शृंगार को शांत का सहकारी रखकर शांत के दो वर्ग किये हैं—रूक्ष एवं रसरूप ।

शांत रस को लेकर संस्कृत के आचार्यों में भी मतभेद रहा है । एक ओर रसगुरु भरत ने शांत रस को नवम रस के रूप में स्पष्ट स्थान नहीं दिया, दूसरी ओर रति को शांत का स्थायी मान कर की गई अभिनवगुप्त की विवेचना इतनी सबल है कि शांत रसोपासना सहज ही भक्ति का अप्रतिभ रूप सिद्ध हो जाती है ।[36]

रामानंदी संप्रदाय के प्रत्येक भक्ति-भाव में विकास हुआ है । नव-विकसित उपासना-मधुरशांत, मधुरदास्य, मधुरवात्सल्य, मधुरसख्य, मधुर कांताभाव समन्वित है, जो मिथला-भावोपासना के नाम से अभिहित की जाती है । मधुर शांत में भक्त निश्चेष्ट भाव (वृक्ष, लतादि) रखकर लीलादर्शन करता है । मधुर दास्य में उपासक अंतःपुर में टहल-कार्य लेता है । मधुर वात्सल्य में मिथिला संबंध के अनुसार जामातृ के रूप में उपासना करने वाले भक्त प्रिया-संयुक्त प्रियतम की शृंगारमंडित झांकी अपने हृदय में बैठाते हैं । मधुर सख्योपासक श्याले रूप में हास्य की फुलझड़ियों से आराध्य की मनुहार करते हैं । भावों के सीमाविस्तार एवं वैविध्य-सर्जन करने में यह संप्रदाय अग्रणी रहा है । मधुर कांताभाव में परंपरा प्रवर्तन करने वाली अनेक विशेषताएँ विकसित हुई हैं ।

---

३२. निज रस अंगी जान हिय, सब रस माने अंग ।
हिलमिल सियरामहि भज भक्त रसिक रसरंग ।।
—श्री रामरसरंग दोहावली, पृष्ठ ११

३३. कंपेरेटिव स्टडीज आफ वेदांतिज्म, पृ० २८३—एम० एन० सरकार ।

३४. सिद्धांत तत्वदीपिका—बालअली (पृ० ३८) ।

३५. श्रीरामरसरंग दोहावली, पृ० १०, माधुर्य केलिकादंबिनी, पृ० ५३—कामदेंद्रमणि ।

३६. 'तत्रअनाहतानंदमय स्वात्मपिषय रतिरेव मोक्षसाधनमिति सैव शांतो स्थायी नीति' अभिनवभारती, गायकवाड़ संस्करण, पृ० ३३५ । द नंबर आफ रसाज पृ० ८१ श्री वी० राघवन ।

(ङ) आचारमूलक बाह्यपक्ष

प्रत्येक संप्रदाय में कुछ न कुछ आचार धर्म रहता ही है। धर्म का यह पक्ष भावना के सूत्र से आबद्ध रहने पर भी दूर से देखने वाले को कोरा दिखता है। संप्रदाय में भी उपासकों की वाणी इस प्रवृत्ति की ओर संकेत करती है कि रसिकों की नकल में असल होने की संभावनाएँ निहित हैं।[३७]

साधना एवं ज्ञान की भूमिका तैयार करने के लिये पंचसंस्करों का विधान वृद्ध हारीत स्मृति, वृहद ब्रह्म संहिता एवं नारदपांचरात्र में स्वीकृत है। श्रीवैष्णवमताब्ज-भास्कर में इनका उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

धनुषबाण की तप्तमुद्रा उर्ध्वपुंड्, वैष्णवतासूचक नामकरण। श्रीराममंत्रोपदेश और तुलसीकंठीधारण—यह पंचसंस्कार मोक्ष के हेतु हैं। बालअलीजी ने सिद्धांत तत्वदीपिका के दसवें अध्याय में पंचसंस्कारों का सांगोपांग उल्लेख किया है एवं पद्मपुराण तथा नारद पांचरात्र की साक्षी दी है।[३८]

श्री रामचन्द्रजी के पांच आयुध माने जाते हैं— धनुष, बाण, ढाल, तलवार, एवं तूणीर। इनमें धनुषबाण का अधिक महत्व है। धनुषबाम भुजा पर अंकित किया जाता है तथा बाण दक्षिण भुजा पर। इन दो मुद्राओं के अतिरिक्त वक्षःस्थल पर युगलनाम तथा मुद्रिका तथा ललाट पर चन्द्रिका को भी स्थान दिया जाता है। ये मुद्राएँ प्रायः शीतल ही धारण की जाती हैं।

आचार्य अपनी परंपरानुसार शिष्य को तिलक बताते हैं। तिलक का सुहागिन के सिंदूर के समान महत्व है। उसका रेखासंयुक्त रूप सीताराम का प्रतीक है। संप्रदाय के कुछ आचार्य नासिकामूल पर तिलक के आगे सूक्ष्म रेखा निकाल कर आराध्य के सिंहासन को भी प्रतीकतः सम्मिलित कर लेते हैं। कुछ आचार्य शृंगाररसोपासना के अनुसार बेंदी का शृंगार भी तिलक के अंतर्गत करते हैं। परम्परा के अनुसार ही पीला, सफेद, लाल आदि रंगों के तिलकों की प्रतिष्ठा है।

संप्रदाय में दीक्षित साधक के गुरू-प्रदत्त नाम से भक्त-समाज में प्रवेश होता है। सांसारिक संबंध की भांति आराध्य एवं उनके परिकर से उसके भाव-संबंध का ज्ञान कराया जाता है।[३९] नाम के अंत में प्रायः शरण जोड़ा जाता है। सख्य भाव वाले भक्तों के नामों के अंत में मणि, निधि अथवा सखा रखते हैं। शृंगारी भक्तों को महली नाम भी दिया जाता है। यह सखी सूचक होता है।

भक्तों के ध्यान, जप एवं स्मरण के लिये मंत्र-दीक्षा दी जाती है। षड़क्षर राम मंत्र, (बीज मंत्र), शरणागतिमंत्र एवं चरम मंत्र नाम से तीन प्रकार

३७. नृत्य राघव मिलन कवितावली, पृ० १२२, रामसखे।

३८. सिद्धान्त तत्व दीपिका, पृ० ३४, ३५, बालअली।

३९. विशेष द्रष्टव्य, 'राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय' पृ० २३४, २५२—डा० भगवतीप्रसाद सिंह।

के मंत्रों की प्रतिष्ठा है, जिन्हें रहस्य-त्रय की उपाधि से विभूषित किया गया है।[४०]

आचार्यगण शिष्यों को तुलसी काष्ठ की कन्ठी भी प्रदान करते हैं। इसे भक्त सदैव धारण किये हुए रहता है। यह कन्ठी युगल प्रेम का स्मरण दिला कर-(वृन्दाविष्णु के अखण्ड प्रेम के कारण) साधक की प्रेम-भावना को उद्दीप्त करती रहती है।[४१] ऐसी मान्यता है कि इसके पवित्र स्पर्श से मनुष्य अपने जीवन को आराध्य का प्रसाद अनुभव करता हुआ संपूर्ण कर्मों में अनासक्ति का भाव रख सकेगा।

संप्रदाय की उदार नीति के अनुसार उपासकों को मुख्य-मुख्य वैष्णव व्रत, उत्सव और तीर्थ आदि मान्य हैं। व्रतों में शुद्धा एकादशी का अधिक आग्रह है। देवताओं के जन्म-दिनों पर व्रत एवं उत्सवों का आयोजन होता है। संप्रदाय के लोग बड़े प्रेम से द्वारका एवं वृन्दावन जाते हैं तथा पारस्परिक सौहार्द का परिचय देते हैं। आराध्य श्री राम के उत्सवों में वसन्त लीला, फाग लीला, हिन्डोल लीला, राम लीला और रास लीला मुख्य हैं। इन अवसरों पर संप्रदाय से बाहर के लोग भी इस भावधारा से अछूते नहीं रह पाते हैं।

संप्रदाय के आचार्यों ने घूम-घूम कर राम-भक्ति का प्रसार एवं प्रचार किया है तथा स्थान-स्थान पर गादियों की स्थापना की है। वैष्णवों के बावन द्वारों में छत्तीस द्वारे अकेले इसी संप्रदाय के अधिकार में हैं। उत्तरभारत में पश्चिम में आबू, पूर्व में आसाम तथा सुदूर उत्तर में काश्मीर तक ये गादियाँ फैली हुई हैं। फिर भी इनकी संख्या राजस्थान में अधिक है क्योंकि क्षात्र धर्म को राम भक्ति ने ही भली प्रकार सन्निविष्ट किया है। उत्तर प्रदेश के गजेटियर में से आगरा एवं झांसी जिलों में रामानन्दियों की संख्या संप्रदाय की लोकप्रियता की ओर संकेत करती है, जो इस प्रकार है---

जिला	वैष्णव हिन्दुओं की संख्या १००%	रामानन्दी
आगरा		८० प्रतिशत (लगभग)
झांसी		८३ प्रतिशत (लगभग) [४२]

अत: संप्रदाय के विगत ५०० वर्षों का इतिहास भारत की परम्परानुरूप बौद्धिक क्षमता का ही परिचय नहीं देता, वरन आध्यात्मिक उपासनापरक एवं साहित्यिक सामग्री भी अध्ययन के लिये प्रस्तुत करता है।

---

४०. वीज मंत्र, रामरामायनम:। शरणागतिमंत्र, श्री राम: शरणम् मम्।
एवं श्री मद्राम चन्द्र चरणौ शरणम् प्रपद्ये। चरममंत्र,
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च्याचेते। अभयम् सर्वभूते म्योददाम्ये तद्व्रतम् मम्।

४१. सिद्धान्ततत्वदीपिका, पृ० ४१, बालअली।

४२. आगरा डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, १९०५, नेविल, झांसी डिस्ट्रिक्ट गजेटियर १९०९। डूक ब्राक मेन जिल्द २४ वीं।

न० अं० व्यास

गुजरात की हिन्दी सेवा

विषय का शीर्षक ही ऐसा है कि आप लोग सोचेंगे, प्रश्न करेंगे कि क्या अहिन्दी भाषियों ने भी हिन्दी में साहित्य सर्जन किया है, हिन्दी की सेवा की है ? परन्तु इसका उत्तर 'हाँ' में ही आएगा। महाराष्ट्र और गुजरात के कई साहित्यिकों ने न केवल अपनी भाषा में, अपितु व्रजभाषा हिन्दी में भी साहित्यसर्जन किया है। 'काव्यं यशसेऽर्थकृते' या ऐसा कोई उनका भव्य एवं उदात्त हेतु न था। 'स्वान्तः सुखाय' अपने भक्त हृदय के अनुभूतिमय संवेदनों को अभिव्यक्त करने के लिये ही उन्होंने उत्तमोत्तम ग्रंथों का प्रणयन किया है। महाराष्ट्र के नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, केशवस्वामी व अमृतराय और गुजरात के भालण, अखो, दयाराम, दलपतराम, ब्रह्मानन्द और धीरो विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस निबन्ध में केवल गुजरात की हिन्दी सेवा पर ही विस्तृत रूप से विचार किया जाएगा।

मध्यकालीन गुजरात में साहित्यिक जनसमुदाय व मन्द यशः कवि प्रार्थी, महाकवि नन्ददासजी की 'मानमन्जरी' और 'अनेकार्थमंजरी' से काव्य अभ्यास का प्रारम्भ करते और धीरे-धीरे सुन्दरश्रृंगार, कबिप्रिया, रसिकप्रिया, छन्दश्रृंगार, भाषा भूषण, बिहारी सतसई वृंद सतसई और जसुराम कृत राजनीति इत्यादि ग्रन्थ पढ़ते।[1] वृद्ध होने पर सुन्दर विलास, तुलसीकृत रामायण, योगवाशिष्ट इत्यादि पढ़ते। भड़ोच (गुजरात) के वणिक् गृहस्थ कृत 'उपदेशबावनी' या किसनबावनी भी रही जाती थी।

अब हमारे समक्ष यही प्रश्न आता है कि अहिन्दी-प्रदेश में भी हिन्दी के ऐसे उच्च व महत्व के स्थान के क्या कारण हो सकते हैं ? उस समय की साहित्यिक भाषा ही व्रजभाषा थी। रियासतों के राजामहाराजा, कवि, बारहट्ट, चारण इत्यादि का पोषण करते थे। और ये कविजन राजा की प्रशंसा हिन्दी भाषा, चारणी भाषा या डिंगल में ही करते थे। राजा की प्रशंसा के कवित्तों या छंदों के अतिरिक्त अन्य विषय के काव्य भी वे इतनी ही निपुणता से एवं कलामयता से करते थे। ये बारहट्ट पिंगलशास्त्र और डिंगल पर पर्याप्त प्रभुत्त रखते थे और सुयोग्य कविजनों के कई वर्षों तक शिष्य रह चुके थे। सौराष्ट्र के अनेक राजा भी व्रज-भाषा में प्रवीण थे। रस, अलंकार, नायक-

१. गुजराती-हिन्दी साहित्यमां आपेलो फालो श्री० डा ह्या भाई देरासरी।

नायिका भेद इत्यादि संस्कारी ज्ञान के लिये भावनगर के विजयसिंहजी प्रसिद्ध थे । श्री वल्लभ-सम्प्रदाय के आगमन के साथ वैष्णवों की ओर से भी व्रजभाषा को उत्तेजन मिला । मन्दिरों में कीर्तन भी इसी भाषा में होते । इस तरह कई शताब्दियों से व्रजभाषा का प्रचार होने से अनेक मनुष्य इससे परिचित थे । और गुजरात के कई प्रसिद्ध कवियों ने व्रजभाषा हिन्दी में भी काव्य लिखे हैं ।

गुजराती आख्यान काव्यों के जनक एवं संस्कृत भाषा निपुण १५वीं सदी के सुप्रसिद्ध कवि भालण के दशमस्कंध में व्रजभाषा के पद मिलते हैं । गुं० विं० सभा, अहमदाबाद की दशम की प्रति में व्रजभाषा के पद हैं । वे शायद भालण के न भी हों पर भालण की छाप वाले पद तो भालण के ही हैं । भालण के पद मधुरता, प्रासादिकता एवं भावाभिव्यक्ति में सूरदास के पदों से कम नहीं है । उदाहरण के लिए उनका निम्नलिखित पद देखिए:—

> कोन तप कीनोरी माई नंदराणी, । कोन०
> ले उछंग हरिकुं पय पावत, मुख चुंबन मुख भी नो री ।।
> तृप्त भये मोहन ज्युं हसत हैं तब उमगत अधरहु की नो री ।
> जसोमती लटपट पूँछन लागी, वचन खेचित बलि नोरी ।।
> रिदे लगाय बरजु मोहि तुं कुलदेवा दी नो री ।
> सुन्दरता अंग अंग कए बरनु तेज ही सब जग ही नो री ।।
> अंतरिख सुर इन्द्रादिक बोलत वृजजन को दुख की नो री ।
> इह रस सिंधु गान करी गाहत भालन जन मन भी को री ।।

मध्यकाल तक तो गुजराती और पश्चिमी हिन्दी भाषा एक ही था । इसीलिए डॉ० टेसिटोरीने प्राचीन गुजराती को ही Old Westesn Rajasthani पुरानी पश्चिमी हिन्दो नाम दिया था । राजस्थान को ही नहीं, पर सारे हिन्दी जगत् को प्रोज्वल कवयित्री मोराँबाई गुजरातो भाषा की भो इतनो ही महान् कवयित्री मानी जाती है । राजस्थानी मीराँ जीवन के अंतिम वर्षों में द्वारका (गुजरात) आकर गुजराती भाषा की महान् कवयित्री भी हो गई है । मीराँ के बहुत से पद ऐसे हैं जो हिन्दी और गुजराती—दोनों भाषाओं में बहुत कम फ़र्क़ के साथ मिलते हैं । उनके कई पद केवल हिन्दी में ही मिलते हैं तो कई पद ऐसे भी हैं जो केवल गुजराती में ही मिलते हैं । "राम रमकडुं जड़ी युंरे, राणाजी मने राम रमकडु जड़ीयु'" और "बोल मा बोल मा बोल मारे राधाकृष्ण विना बीजुं बोल मारे" उनके प्रसिद्ध गुजराती पद हैं । 'म्हाँ ने चाकर राखोजी गिरधारीलला चाकर राखोजी" पद थोड़े परिवर्तन के साथ गुजराती में भी है । मीरां को अहिन्दी भाषी मानने का निन्द्य प्रयास मैं नहीं कर रहा हूँ पर हिन्दी के सामान्य विद्यार्थी से लेकर महापंडितों को भी स्वीकार करना ही होगा कि मीरां गुजराती भाषा की भी वह प्रौज्वल ज्योतिर्मय कवयित्री है जिनका स्थान यावच्चंद्रदिवा करौ तक अमर है । मीरांबाई के ग्रन्थों से आप सब सुपरिचित होने से इस विषय पर विशेष पिष्टपेषण करना उचित नहीं समझता । मीरांबाई की हिन्दी कविता को हिन्दी-भाषी 'गुजरात की हिन्दी सेवा के अंतर्गत आने देंगे या नहीं यह एक प्रश्न हो सकता है । पर हम नहीं समते कि ऐसा करने में कुछ अयोग्यता है ।

सत्रहवीं शताब्दि के दादुदयाल ने भी हिन्दी में कई पद लिखे हैं। अहमदाबाद निवासी इस महात्मा का पंथ "दादु पंथ' के नाम से प्रसिद्ध है। वे महान् उपदेशक थे और उनके शिष्यगण में से सुन्दरदास, रज्जबजी, जनगोपाल, जगन्नाथ, इत्यादि ने भी अच्छे काव्य लिखे हैं। हिन्दी कवियों में भी उनका स्थान बहुत ऊँचा माना जाता है और 'सन्त बानीसंग्रह' में 'दादूदयाल की बानी' अत्यंत प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय है। उन्होंने कबीर और नानक की कक्षा की ज्ञानमार्गीय और रहस्यमार्गीय कविता १७वीं शताब्दि के पूर्वार्घ में देकर हिन्दी कवियों में उच्च स्थान प्राप्त कर लिया था। व्रजभाषा के अष्टछाप सूरदासादि आठ कवियों में से कृष्णदास गुजरात के पटेल (पाटीदार) थे।[२]

सत्रहवीं सदी के अहमदा बाद के सोनी भक्तकवि अखा या अखा जी ने भी वेदान्त जैसे गंभीर विषय पर अनेक काव्य लिखे हैं। उनके काव्यों में मधुर एवं प्रसादगुण की न्यूनता है। पर उनसे काव्यों के संबंध में गुजरात के अग्रिम आलोचक श्री० नरसिंहराव दीवेटिया ने ठीक हो कहा है कि 'Where Akho is Simple, he is Sublime.'। उनको बानी शीघ्र ही तीव्र प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता रखती है कई पदों के अतिरिक्त उन्होंने सन्तप्रिया और ब्रह्मलीला नामक काव्यों की रचना भी हिन्दी में की है। निर्गुण भक्ति की अभिव्यक्ति करता उनका एक पद देखिए:—

ज्ञान घटा चढ़ आई, अचानक ज्ञानघटा चढ़ आई। टेक
अनुभव जल बरखा बड़ी बुंदन, कर्म की कीच रेलाई।।
दादुर मोर शब्द संतन के, ताकी शून्य मीठाई।
चहुदश चित्त चमकत आपनपों, दामिनी सी दमकाई।।
घोर घोर घन गर्ज घेहेरा, सतगुरु सेन बनाई।
उमगी उमगी आवत है निशदीन, पूरब दिशा जनाई।।
गयो ग्रीसम अंकुर उगी आये, हरिहर की हरि आई।
शुक सनकादिक शेष सहराये, सोई अखा पद पाई।।

उनके काव्य ओजस् गुण से परिपूर्ण है और जाह्नवी के प्रवाह की तरह उनके काव्य का प्रवाह धीरता, गंभीरता एवं प्रसन्नता से आगे बढ़ता ही जाता है। 'सन्तप्रिया' में कवि का कथयितव्य है कि "गुरु गोविन्द, गोविन्द सोही गुरु: गुरु गोविन्द गने नहि न्यारा"। इस काव्य में ज्ञान की भी भूरिभूरि प्रशंसा की गई है और वेदान्त के तथ्यों का निरुपण भी सुचारुरुपेण किया गया है। वेदान्तविषयक 'ब्रह्मलीला' काव्य में सगुण ब्रह्म, निर्गुण ब्रह्म, पुरुष,, प्रकृति इत्यादि का वर्णन किया गया है। तुलसीदास एवं सूरदास की विशुद्ध भक्ति से गिरी हुई और शृंगार के भार दबती जाती हिन्दी कविता के समय में यदि अखाजी का प्रभाव पड़ता तो बहुत ही अच्छा होगा।

---

२. गुजराती साहित्यनुं रेखादर्शन खंड १ पृष्ठ १९२।

श्री के० का० शास्त्रीजी

सत्रहवीं सदी के ही विश्वनाथ जानी का 'प्रेमपच्चीशी' काव्य विविध छंदों में रचा गया है। इसमें १७ वां पद ब्रजभाषा में लिखा हुआ है। गुजराती काव्यों में बीच-बीच में ब्रजभाषा के पद रखने का कवि संप्रदाय बहुत पुराना है। भालण के समकालीन 'कृष्ण क्रीड़ा काव्य' के कर्ता कायस्थ केशवदास ने भी अपनी कृति में ब्रजभाषा के कई सुन्दर पद रखे हैं।[3]

गुजराती मध्यकालीन साहित्य के अमर ज्योनिर्धर कवि सम्राट् प्रेमानन्द ने भी आरम्भ में हिन्दी में ही काव्य रचने का प्रारम्भ किया था, परन्तु तदनंतर उन्होंने अपनी मातृभाषा गुजराती में ही काव्य लिखे। हिन्दी में काव्य न लिखने का कारण हिन्दी के प्रति उसका न द्वेष न था, पर वह चाहता था कि जैसा अन्य भाषाओं का साहित्य है वैसा ही मेरी मातृभाषा में क्यों न हो? ऐसी हठ प्रतिज्ञा से ही वके विपुल प्रमाण में साहित्य का सर्जन कर सका।

१७ वीं सदी के ही सामलभट्ट ने अपने गुजराती काव्य 'अंगद-विष्टि' में कई संभाषण हिन्दी में ही करवाये हैं। रामायण की 'अंगदविष्ट' का प्रसंग तो अत्यन्त लोकप्रिय है। अंगद और राम एवं अंगद और रावण के बीच के कई सवांद हिन्दी में ही है। थोड़े उदाहरण देखना अनुचित न होगा:—

अंगद— कहे अंगद कर जोरे के, निगुं सो कहा नेह।
कहा अगर खर काककुं जैसा उखर मेह ॥१६

राम— स्वभाव यह सन बान को, अकल बड़े को अंक।
राम कहे अपनो प्रीछे, बडा न काढे बँक ॥१७

छप्पय

अंगद— कहा मूरख से मेल। कहा काया बिन माया।
कहा रंक से रुड, कहा सेना बिन राया॥
कहा नपुंसक सुं नार। अपगंसु कहा अटारी।
कहा दरिद्र को दाम। कहा परस्त्री से यारी॥
पुनि कहा कुदस को कूटनो। कहा पंडित सों पारसीं।
कहा रावन को रीझवन। ज्यों अन्धे आगे आरसी ॥२०

सोरठा

राम— राम कहे सुन बीर, धीर बड़े ज्यौं हारीए,।
जो लों मेर गुड खीर, तो लों विष न मारीए ॥२१

'अंगदविष्टि' का प्रसंग डिंगल के उपयुक्त ही वीररस से परिपूर्ण है। और ऐसे कई कई निर्व्याज मनोहर सोरठे छप्पय तथा कवित्त इस काव्य में मिलते हैं।

३. डॉ सांडेसरा संपादित 'सत्तारमा शतकनां प्राचीन गूर्जर काव्य' पृष्ठ ३१।

गुगली जाति का ब्राह्मण मुकुन्द द्वारिका में रहता था और उसने केशवानन्द नामक व्यक्ति से हिन्दी साहित्य के ग्रन्थों का अभ्यास किया था। बहत-काव्य दोहन भाग, में उनके दो हिन्दी ग्रन्थ देखकर यह प्रतीत होता है कि उसने हिन्दी साहित्य का पर्याप्त अध्यन किया होगा। संवत् १७०८ के वर्ष में उसने भवनमाला (ब्रह्मज्ञानी १० भक्तों के चरित्र का पुस्तक) लिखने का प्रारम्भ किया थां। कबीर को सर्वश्रेष्ठ मान कर उसका चरित्र सर्व प्रथम लिखा गया है।

अहमदाबाद के ब्राह्मण कवीश्वर दुलपनिराय और वणिक् बन्शीधर ने संवत् १७९२ म 'अलंकार-रत्नाकर' नाम का ग्रन्थ बनाया था। उन्होंने उदयपुर' के जगतसेन के नाम पर पर यह ग्रन्थ लिखा है। वे उदयपुर के नरेश जगतसिंह के आश्रित कवि थे। उन्होंने कुवलयानन्द ग्रन्थ का आधार लेकर भाषाभूपण की पूर्ति के स्वरूप में इस ग्रन्थ की रचना की है। अपने काव्यों के उदाहरणों के अतिरिक्त इन्होंने अन्य कवियों के काव्यों से भी उदाहरण दिए हैं। अलंकार-रत्नाकार में जरावनसिंह महाराज रचित भाषाभूषण की एक प्रकार की टीका ही है। इन दोनों कवियों की अविता अत्यन्त मनोहर, प्रासादिक, कोमल एवं मधुर था। देखिए।

रहै सदा बिकसित बिमल-धरे बास मृदु मंजु।
उपज्यो नहिँ पुनि रंक ते प्यारी तब मुख कंजु ।।

कवीश्वर केवलरामजी ने संस्कृत और व्रजभाषा का अच्छा अभ्यास किया था। उनका जन्म संवत् १७५६ में हुआ था। उन्होंने -बाबीविलास' नामक ऐतिहासिक काव्य लिखा है।[४] उनके पुत्र आदितरामजी ने भी हिन्दी अच्छे पद लिखते हैं।

संवत् १७६७ के आश्विव सुद १० के दिन पूर्वाश्रम वे किशनदास नामक जैन-साधु कवि ने जैनधर्म दीक्षित अपनी बहन रतन बाई के निमित्त 'किशनबावनी' नामक छोटासा काव्य लिखा है। कवि ने तो अपने काव्य-ग्रन्थ का नाम' उपदेश बावनी ही रखा था, पर जनसमुदाय में यह काव्य 'किशनबावनी' नाम से ही विख्यात है। काव्य के संबंध में कवि कहता है कि यह काव्य मैंने मेरे जैन मतानुसार नहीं, परन्तु वेदान्तमतानुसार लिखा है।[५] इस काव्य में कवि ने प्रथम जैन-सूत्र "ॐ नमः सिद्धम्" इस प्रत्येक अक्षर से आरम्भ होते कवित्त बनाकर, इसके बाद के कवित्त मूलाक्षर के क्रम में लिखे हैं। इस काव्य की भाषा प्रभावोत्पादक, वेगवती और मनोवेधक है।

काशी निवासी गुजराती ब्राह्मण हरिनाथ ने संवत् १८२६ में अलंकार-दर्पण नामक ग्रन्थ लिखा है। इसमें लक्षण, उदाहरण इत्यादि समझाये गये हैं। उन्होंने पृथीशाह मुहम्मदशाह संबंधी ऐतिहासिक ग्रन्थ भी लिखे हैं। इसकी व्रजभापा सामान्यतः अच्छी है।

गुजरात की हिन्दी सेवा में साहित्यिक बल व काव्यगत सौंदर्य से प्रथम पंक्ति का स्थान प्राप्त करने वाले भवन कवि दयाराम का जन्म इ०सं० १८२३ में हुआ था।

---

४. गुजराती ओ ए हिन्दी साहित्यमां आपेलो फालो-डेरासरी

५. वही।

गुजराती के अतिरिक्त उनकी हिन्दी कविता भी सर्वोत्कृष्ट है उनकी हिन्दी भाषा केवल व्रजभाषा नहीं है। भारतवर्ष की बार बार यात्रा करने से भारत की अनेक बोलियों के शब्द उनकी व्रजभाषा में पाये जाते हैं। हिन्दी में उन्होंने अनेक पद लिखे हैं। उनके 'सतसैया' की भाषा कठिन है। उनके कविता संबंधी विचार थे कि काव्य सरल न होने चाहिए:—"धर्म, काव्य, कुश्मांड, कुच, उख, कठोर त्यौं सार"

दयाराम ने हिन्दी में ४० के लगभग ग्रन्थ लिखे हैं। इन सभी में 'सतसैया' 'सर्वश्रेष्ठ रचना है। श्री व्रजरत्नदास ने अपने खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास में दयाराम के बारे में लिखा है कि "ये गुजराती कवि थे, पर भारत-भ्रमण से इनकी दृष्टि सार्वदेशिक हो गई और इनके उद्‌गार राष्ट्रभाषा हिन्दी में काफी निकले, जो इन्हें भारत-व्यापी भाषा ज्ञात हुई। इन्होंने दोहों-छंदों के सिवा गेय पद भी लिखे, चित्रकाव्य रचे तथा रसशास्त्र पर भी कविता की। ये अत्यन्त भावुक भक्त कवि थे और गुजराती के कवियों में तो इनका स्थान बहुत ऊँचा है। हिन्दी की मुख्य रचनाएँ सतसैया, वस्तु-वृन्द दीपिका तथा श्रीमद्‌भागवत की अनुक्रमणिका है।"

उन्होंने ब्रजभाषा में कई अन्य ग्रन्थ भी लिखे हैं। पर वे या तो अपूर्ण हैं या अप्राप्य हैं। उन्होंने धार्मिक, उपदेशात्मक और शृंगारिक—प्रत्येक विषय के काव्य लिखे हैं।

उनकी हिन्दी कविता के कुछ उदाहरण—

> खरक सँवारो कर भरे, गोबर छुट उर छोर।
> एहे बड़को वाल तुम, ढांकिय नंद किसोर॥

(सतसैया, दोहा सं० १७१

"हे नन्दकिशोर, मेरे हाथ तो गोबर में हो रहे हैं। मेरे उर पर का वस्त्र हट गया है। अभी कोई बड़ा आदमी इधर से आ निकलेगा, तुम तो बालक हो, जरा इसे ढँक दो।"

मुदिता नायिका का वर्णन—

> "कान कहि जो कान में, कानन में कहि कान।
> का 'न' कहती वहाँ अली, आ 'न न' भाव न जान॥

"हे श्री कृष्ण, जो बात तुमने अब कान में कही वह एकान्त कानन में क्यों न कह दी? श्री कृष्ण ने कहा, "हे आली। क्या तू 'न' नहीं कहती?' बाधिका ने" कहा, हे चतुर शिरोमणि! क्या तुत स्त्रियों के 'न- का भाव भी नहीं समझते?

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि बिहारी ने केवल लौकिक शृंगार गया है जब कि दयाराम का शृंगार अलौकिक है।[६]

पिंगल शी गढवीं ने 'वैकुंठ पिंगल' नामक ग्रन्थ लिखा है। संवत् १७३७ के श्रावण सुद् पंचमी और मंगलवार के दिन राजकोट (सौराष्ट्र) के जाडेजा राजकुमार महेरामणसिंह

६. मोदी कृत 'दयाराम'

जी और उनके छ मित्रों ने "प्रवीणसागर" नामक उत्तम ग्रन्थ की रचना की है। महेरामण' शब्द का का अर्थ समुद्र-सागर-है। इस पर से इस ग्रन्थ का नाम सागर और ग्रन्थ के प्रकरणों का नाम "लहरें" रखा गया है। इस ग्रन्थ की कुल ४ लहरें जानने में आई हैं प्रवीण-सागर काव्य-ग्रन्थ की अपूर्वता ग्रन्थ की वस्तु संकलना, रसिकता और वर्णित लोकोपयोगी विषयों सभी आर्षित हुए।

यह ग्रन्थ अपूर्व होने पर भी शब्दालंकार से विशेष रूप से अलंकृत होने से कविता कई जगह क्लिष्ट हो गई है। कच्छ-सौराष्ट्र के जनपदीय एवं प्रादेशिक शब्दों का भी काफी प्रयोग लेखक ने किया है। तुलसीदास और सूरदास जैसे हिन्दी महाकवियों की तरह इस कवि के काव्य की भाषा शुद्ध नहीं है। इस अपूर्ण ग्रन्थ को दलपतराम ने पूरा किया था।

'प्रवीणसागर' की भाषा और रचना पर सम्मति के लिये इसकी एक प्रति गोकुल, मथुरा, वृन्दावन के गोसांई महाराजाओं और काशी के पंडितों के प्रति भेजी गई थी। व्रजवासी गोसांई ने ग्रन्थ देखकर अभिप्राय दिया कि, "ग्रन्थ की संकलना और काव्य रचना अद्वितीव एवं अतिरसिक है; तथापि ग्रन्थ की भाषा को व्रजभाषा का नाम नहीं दिया जा सकता क्योंकि कच्छी और गुजराती भाषा के कई शब्दों का अर्थ कोई संस्कृत या व्रजभाषा कोष के आधार से भी व्रजभाषा का विद्वान नहीं कर सकता। अत: यह ग्रन्थ व्रजभाषा का है—ऐसा प्रमाण पत्र हम नहीं दे सकते। तात्पर्य कि ऐसा उत्तम रसिक ग्रन्थ संकर व्रजभाषा में लिखा गया है। काशी के पंडितों ने तो मनुष्य प्रेम की इस ग्रन्थ में रचना है ऐसा कह कर इसका सम्पूर्ण अनादर किया था और इसी कारण से उत्तर हिन्दी में इस ग्रन्थ की प्रतिष्ठा नहीं हुई।

हिन्दी के बहुत से इतिहास कारों ने गोविन्द गिल्ला भाई की रचनाओं में प्रवीणसागर का नाम भी दिया है।[७] पर वस्तुत: वे प्रवीणसागर के संग्रहकर्ता, संपादक और टीकाकार ही हैं।[८]

अब इस कवि के काव्य के उदाहरण देखिए:—

प्रेम का प्याला पियो भरकें हम, हम या सुख जांन पर्यो न तबें।
कैफ की ज्वाला जगी घट भीतर, कोटि प्रकार किये न दबें॥
जांनहिगो न अजांन कहे कछु, जांनत जानन हार सबें।
पथ्य न पावहिगें जु प्रबीन तो, कोन उपाय करेंगें अबें॥
(लहर ३६ वीं)

अब इस कवि के काव्य के उदाहरण देखिए:—

इस काव्य में मृगया, सैन्य कामविहार, संगीत भेद, नृत्यवाधभेद, नाड़ीभेद, ऋतुवर्णन, इत्यादि का सुन्दर वर्णन है। इस काव्य ग्रन्थ में गुर्जरो सखी, कच्छीसखी,

७. रामचंद्र शुक्ल का हिन्दी साहित्य का इतिसास सं· १६६७ पृष्ठ ७००
८. महेरामणसिंह कृत "प्रवीणसागर" सम्मेलन पत्रिका संवत् २०१३ अंकर
—लेखक अंबाशंकर नागर

महाराष्ट्री सखी, मारवाड़ी सखी, माथुरी सखी, यावनी (उर्दू) सखी व गिर्वाण सखी अपनी अपनी मातृभाषा में विरहणी नायिका को आश्वासन देती हैं।

१६ वीं शताब्दि के भक्त कवि धीरा और भोजा ने भी हिन्दी के कई पद लिखे हैं। जूनागढ़ निवासी मनोहरदास ने हिन्दी में मनहर पद लिखे हैं इन पदों में व्यापक ब्रह्म का वर्णन और चर्चा के मिथ्यात्व का वर्णन किया गया है। उपनिषद के अनेक वाक्यों की झलक उनके हिन्दी पदों में मिलती हैं। वर्णाश्रमधर्म की महत्ता पर भी उन्होंने लिखा है। झूठे भक्त को कड़ुवी शिक्षा और अभिमानी पंडित को उपदेश देकर उन्होंने कलियुग के गुरु के पाखन्डों का वर्णन किया है। उन्होंने ब्रह्मा की तुलना कामधेनु से की है।

मनोहरदास का भाषा सौष्टव और अलंकार प्रभुत्व प्रशंसनीय है उनके कई पदों की तुलना हम मीराबाई के पदों से कर सकते हैं। स्वामी नारायण संप्रदाय के कवियों ने भी गुजराती के सिवा हिन्दी में काव्य लिखे हैं। इस संप्रदाय के साधु अच्छा अभ्यास करते और धर्म एवं जनसेवा के साथ-साथ साहित्य के लिए भी प्रयत्न-शील रहते।

मुक्तानन्द स्वामी (इ० स० १७६१-१५२८) ने हिन्दी में 'विवेक चितामणि' और 'सत्संग शिरोमणि' नामक दो काव्य लिखे हैं। दोनों ग्रंथ सद् धर्म की वृद्धि के लिये लिखे गये हैं।

प्रेमानन्द स्वामी (इ० स० १७७६-१८४५) ने 'प्रेम सखी' उपनाम से कई शृंगार के और वैराग्य के पद लिखे हैं। कहा जाता है कि उन्होंने हिन्दी में ७००० और गुजराती ३००० पद बनाये हैं। उनकी कविता अत्यन्त रसिक एवं भावमय है। मोहक कविता और प्रेम भावना से ही उन्हें 'प्रेम सखी' का उपनाम मिला था।

ब्रह्मानन्द स्वामी (इ० स० १८२५-१८२६) ने संप्रदाय प्रदीप, सुमति प्रकाश, वर्तमान विवेक, ब्रह्मविलास, उपदेश चिन्तामणि व कई पद हिन्दी लिखे हैं। संप्रदाय प्रदीप में श्रीमद् उद्धव स्वामी श्री रामानुज का एवं उनके गुरु का जीवन तथा गुरु परम्परा दी गई। यह ग्रन्थ संवत् १८७५ या इसके पूर्व का है। सुमति प्रकाश में चारणी भाषा का प्रयोग विपुल प्रमाण में है। आधे गुजराती और आधे हिन्दी में लिखित इस ग्रन्थ में मधुर और कानों को आनन्द देन वाले २० विश्राम या अध्याय है। इसमें पंच वर्तमान के धर्म एवं गृहस्थ, स्त्री, तथा पुरुषों के धर्मों प्रायश्चित इत्यादि का वर्णन अत्यन्त सरल एवं मनमोहक भाषा में स्वामी जी ने दिया है। ब्रह्मविलास में सवया, मनहर, कुन्डलिया और छप्पय (षट्पदी)—इन चार छन्दों में लिखे हैं। इसमें अलग-अलग २० विषयों की चर्चा की गई है। उनके पदों में वराग्य, ज्ञान, भक्ति और प्रीति की विस्तृत बाढ़ हम देख सकते हैं।

स्वामी ब्रह्मानन्द की हिन्दी भाषा की शैली और रचना ग्राज भी उस भाषा के भूषण रूप मानी जाती है। कवीश्वर दलपतराम डाल्या भाई ने उनके हिन्दी काव्यों का ही आदर्श अपने सामने रखकर उनकी भाषा और शैली का अनुकरण करने में गौरव माना था।

स्वामी ब्रह्मानन्द की कविता में मीरां—के जैसी संगीतात्मकता, सरलता और सुमधुरता है। इन दोनों की भाषा शैली भी लगभग एक ही है। फर्क है तो केवल इतना कि मीरां मन जहाँ मन के भावों और सूक्ष्माति सूक्ष्म वृत्तियों को चिगित करने म अधिक रमा है वहां ब्रह्मानन्द बाह्य सौंदर्य और माधुर्य पर ही रीझ कर रह गये हैं।[९]

उदाहरण के लिए उनका एक हिन्दी पद दिया जाता है—

कहान कुंवर सन भाये, आलीरी मेरे कहान कुंवर मन भाये।
मैं ज्यु खड़ी अपने भुवन में, चलके अचानक आये।।
कमल गत् न जात बखाने, छेल छगन रंग छाये।
ब्रह्मनंद जोर छग मोसे मंद मंद मुसकाये।।

भक्ति कवि रविदास (इ० स० १७६४-१७९५) ने भी नर्मदा लहरी नामक काव्य मधुर एवं प्रासाहिक शैली मे लिखा है।

कवीश्चर दलपतराम डात्या भाई ने (इ० स० १८२०-१८९८) भी व्रजभाषा में कविता लिखी है। भुज की पाठशाला (पोशाल) में उन्होंने काव्य शास्त्र का अभ्यास किया था। उन्होंने व्रजभाषा में 'श्रावण ख्यान' नामक काव्य लिखकर बलिराम के महाराजा को अर्पण किया है।[१०] उनकी व्रजभाषा की कविता और श्रवणा ख्यान के विषय में कवि गोकुल का अभिप्राय निम्नलिखित है:—

सुभग अर्थ गुन भरे, सलिल शुभ ताप पाप हर।
छंद अनेकन भाँति विराजत सोइ जलचर।।
मात पिता की भक्ति, प्रेम छठ नेम आछे वरा।
परमहंस मुनि महत, परस्पर पच्छपात कर।।
लही वेद पुरान अनेक मत, सत् संगति शुचि विमल मति।
वृज दरशि परशि सतगति लहें, स्नोन कथा तीरथ नृपति।।१।।

राजै गुन बोज गहराई है गंभीरताई,
नव परभाव भावै घाट विसराम की।।
सविता सुता सी वृज पावन करन इत,
आई कविताई कवि दलपतिराम की।।

मिश्र बन्धुओं के अतिरिक्त हिन्दी के अन्य इतिहासकारों ने इस कवि अथवा कृति का उल्लेख नहीं किया है। इस सर्वांगसुन्दर काव्य को भी मिश्रबन्धु सामान्य कक्षा में ही रखने का साहस करते हैं।

---

९. स्वामी ब्रह्मानन्द की हिन्दी कविता सन्तवाणी मासिक वर्ष १ अंक ६।
लेखक श्री अंबाशंकर नागर।

१०. गुजराती ओए हिन्दी साहित्य मां आपेलो फालो—श्री डात्याभाई देरासरो।

श्रवणाख्यान ९ वर्गों का प्रबन्ध काव्य है। इसमें कुल मिलाकर ८०८ छन्द हैं। प्रमुख छन्द कवित्त है। इसके अतिरिक्त उन्होंने चौपाई, सोरठा, छप्पय, सवैया आदि का प्रयोग किया है। उन्होंने सुप्रसिद्ध हिन्दी ग्रंथ 'प्रवीण सागर' के अन्तिम १२ सर्गों को पूरा किया था। इन सर्गों को रचना देखकर इनके ब्रजभाषा-ज्ञान की प्रशंसा करनी पड़ती है।

महाराव लखपती जी, श्री कृष्णराम भट्ट, कवि फकीरुद्दीन, भट्टार्क कनककुशल जसुराम एवं हीराचन्द कानजी भी थोड़ा बहुत योग हिन्दी सेवा में देते रहे। गु० के हाफीज माने जाने वाले बालाशंकर कन्थारीआ ने (इ० स० १८५९-१८९८) हिन्दी में कई पद, 'ज्ञानी' काजी अनवरमियाँ ने (इ० स० १८४३-१९१६) अनवर काव्य, डाह्याभाई देरासरी ने (इ० स० १८५७-१९३७) कई गजल, श्री मन्नृसिंहाचार्य जी ने (इ० स० १८५४-१८९७) श्री नृसिंह वाणी विलास, श्री रंग अवधूत महाराज ने (इ० स० १८९९) अवधूत गीता, वैद्य कुंवर जी नथुने (इ० स० १९०८) कुंवर जी कीर्तन सग्रह, अविनाश नन्द ने (इ० स० १९२१) अभिनाश नन्द काव्य और इन्दुमती ह० देसाई जी ने (इ० स० १९३५) श्री कृष्ण मन्जरी लिखकर गुजरात की हिन्दी सेवा को सुप्रज्वलित दीप्तिमान ज्योति को अधिक ज्योतिष्मती बनाई है। अभी हो सौराष्ट्र के एक कवि ने तुलसीदास के 'रामायण' की तरह ही "वीरायण" नामक महाकाव्य लिखा है। तुलसीदास के नायक थे राम; इस काव्य के नायक हैं जैन महावीर स्वामी। अवधी भाषा में लिखा हुआ यह महाकाव्य सर्वांग सुन्दर है, और महाकाव्य की कसौटी पर भी खरा उतरता है।

गुजरात ने केवल पद्य में ही हिन्दी सेवा नहीं की। अब गुजरात की गद्य सेवा भी देखें। बड़ौदा के लोकप्रिय नरेश सयाजीराव गायकवाड़ ने कोष निर्माण तथा अन्य प्रकाशनों का प्रारम्भ कराया। दयानन्द सरस्वती की इस विषय में सेवा अविस्मणीय एवं सर्वजनविदित है। महात्मा गांधी जी की हिन्दी सेवा या राष्ट्रभाषा सेवा सुपरिचित ही हैं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दो सम्मेलनों के अध्यक्ष बनकर और राष्ट्रभाषा के राष्ट्र गूँगा हैं। ऐसा लोगों को समझाकर, रचनात्मक प्रवृत्तियों से हिन्दी प्रचार अहिन्दी प्रदेशों में करके और कराके वे अप्रतिम हिन्दी सेवी हो ही चुके हैं। अपना साप्ताहिक 'हरिजनों-सेवक' हिन्दी-हिन्दुस्तानी में निकाल कर उन्होंने राष्ट्र के साथ-साथ ही हिन्दी भाषा की भी अविस्मणीय सेवा की है। उनके भाषा विषयक विचारों से शायद हम पूर्णतः एक मत नहीं हो सकते होंगे, पर अगर गांधी जी इतने प्रयत्नशील और छठ संकल्प न होते तो हिन्दी को राष्ट्र भाषा के आसन पर आरूढ रोने में कई कई समय और लग जाता यह तो निर्विवाद रूप से स्वीकार करना ही होगा। 'नवजीवन प्रकाशन मन्दिर' अहमदावाद से कई उत्तम हिन्दी ग्रन्थों का प्रकाशन भी उन्होंने करवाया। 'नवजीवन' का यह कार्य आज भी चल रहा है।

गूर्जरीगिरा के साम्प्रत काल के सर्वोत्तम लोकप्रिय लेखक और उत्तर प्रदेशों के भूतपूर्व राज्यपाल श्री कन्हैयालाल मुन्शी जी ने भी हिन्दी सेवा में अपना समुचित योग दिया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के उदेपुर अधिवेशन के अध्यक्ष रह कर उन्होंने अपूर्व मार्ग दर्शन दिया। कई वर्षों तक प्रेमाचन्द जी के साथ साथ 'हंस' मासिक का भी

सम्पादन उन्होंने किया था। आज वे ही गुजराती लेखकों 'में' से हिन्दी में अधिक प्रिय हैं और उनके बहुत से ग्रन्थों के अनेक अनुवाद हिन्दी में निकाल चुके हैं। उनके ऐतिहासिक उपन्यासों को देखकर हिन्दी लेखकों को अपनी भाषा को इस काम की पूर्ति करने का बल और साहस मिला। काका कालेज कर की हिन्दी सेवा से शायद ही कोई अपरिचित है।

श्री इन्द्र बसा बडा के उपन्यास घर की राह, बड़े म्याँ, और शोभा निकाल चुके हैं, जिनकी हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासकार प्रेमचन्दजी ने भी काफी प्रशंसा की थी।

श्री भट्ट श्री गिरिधर शर्मा हिन्दी, संस्कृत प्राकृत, पाली, बगाली, उर्दू इत्यादि भाषाओं का ज्ञान रखते हैं। उन्होंने गुजराती भाषा के श्रेष्ठ पुस्तकों का अनुवाद किया है जिनमें 'राई का पर्वत', 'जया-जयन्त', 'सरस्वती चन्द्र' 'युग पलटा' 'महासुर्दन' 'प्रेम कुन्ज' 'उषा' इत्यादि मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने स्वतन्त्र हिन्दी ग्रन्थ भी लिखे हैं। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, के प्रधान मन्त्री श्री मोहनलाल भट्ट ने "सोरठ, तेरे बहते पानी" नामक मेघाणी के उपन्यास का हिन्दी अनुवाद किया है।

स्व० अब्बास तैयबजी की पुत्री रेहाना को महात्मा गांधी जी की मीरां का उपवाम दिया गया है। उन्होंने मीरांबाई जैसे ही कई भाववाही भजन लिखे हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित भजन देखिए :—

मैं मरा मरा मरा मरा
मैं मरा मरा मरा तो मिले राम राम राम,
मैं कछू नहीं रहा तो अहो बन गया तमाम ॥१॥
मोरे मन में अहँकार अगन भरकती रहो,
मैं जला जला तो अब आराम आराम आराम ॥२॥
निज हाथ ले कटारी हृदय चीर चीर दूँ,
मैं दुखी दुखी हुआ तो मिला परमानंद धाम ॥३॥
मेरी जीवन पाटो पर अक्षर तो सारे मेल रोल,
मैं मिटा मिटा मिटा तो रहा साफ राम नाम ॥४॥
रैहान जग को छांड अरु श्रीहरि को ठुंठ,
जीवन वह चला चलारे पीछे क्या बनेगा काम ॥५॥

इ० स० १९३२ में महात्मा गांधी जी ने यरोड़ा जेल में हरिजनों के प्रश्न पर २९ दिनों का ऐतिहासिक अनशन किया था। उस प्रसंग पर रेहाना जी के गांधी जी पर के पत्र के बारे में महादेव भाई ने लिखा है: "रेहाना का पत्र तो व्रज की गोपी की याद दिलाने वाला है।" उस पत्र की भी कई पंक्तियाँ देखें:" बापुजी, जब से मैंने

११. हिन्दी ना विकासमां गूजराती ओनो फालो—'शिक्षण अने साहित्य'—ले० जनक दुवे जनवरी १९५२।

सुना तब से मैं नाच रही हूँ··· ···घडी आ गई। आप का यह इरादा तो मेरे लिये किरसन जी की बांसरी ही है उसको सुनकर मैं नाचने लगूँ इसमें भी क्या ताज्जूब ?······आप की इस कुरबानी को मैं कुरबानी नहीं समझती। बल्कि मुझे तो यह नटराज का नाच ही मालूम रोता है।"[१२]

इस तरह हमें प्रतीत होता है कि भालण के समय से लेकर आज तक गुजरात यथाशक्ति हिन्दी सेवा में अपना योग देता रहा है। इन साहित्यिकों की भाषा हिन्दी भाषी लेखकों जैसी ही शुद्ध, परिमार्जित और लक्ष्यवेधी नहीं हो सकती है। पर अब यह समय दूर नहीं होना चाहिए जब कि हिन्दी भाषियों इन कृतियों का सम्यक् अध्ययन एवं आदर करें। इन कवियों व साहित्यिकों के अतिरिक्त भी कई हिन्दी साहित्य हस्त-लिखित प्रतों में, जैन भांडारों में, म्युज़ियमों में एवं बहुत से लोगों के यहाँ पड़ा हुआ है और विद्वानों तथा अनुसन्धित्सुओं को आह्वान दे रहा है। कि, "आओ, हमारे पास रस के एवं संस्कृति के भांडार हैं; इसका स्वयं पान करो और अन्य जनों को भी इसका लाभ दो।" इस विषय पर थोड़ा बहुत अनुसंधान करने की चेष्टा की जा रही है, पर यह विषय तो समुद्र जैसा विशाल एवं गंभीर है। प्रत्येक कवि पर या प्रत्येक शतक के कवि पर गहनता से और सम्यक् परिशीलन से काम होना अत्यन्त आवश्यक है।

गुजरातियों की हिन्दी सेवा मूक होने पर भी तेजस्वी है। इसमें सूर्य तेज की प्रखरता या आँखों को चकाचोंध कर देने वाली बिजली की प्रभा नहीं है; परन्तु लालटेन की उपयोगिता है। दानेश्वरी का प्रभाव या रसेश्वरी के जादू नहीं है; पर बड़ी बहन की छोटी पर विशेष भाग्यवान बहन प्रति की ममता है। यह स्नेह युक्त सेवा हिन्दी के विकास में इतनी उपयोगी है कि हिन्दीभाषियों की हिन्दी सेवा में गुजरात का स्थान शायद प्रथम आ सकता है।[१३]

---

१२. वही।

१३. हिन्दी ना विकासमां गुजराती ओनो फालो—'शिक्षण अने साहित्य' जुलाई १९५१। ले० जनक दवे

शत्रुघ्न भार्गव

प्राचीन साहित्य में श्रीकृष्ण

भगवान् श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व व्यापक, विशाल तथा सरस है। भारतीय लोक-जीवन को कृष्ण के वैचित्र्यपूर्ण एवं सर्वाङ्गीण व्यक्तित्व ने सर्वाधिक रस-सिक्त एवं प्रभावित किया है। इनके शक्तिशाली व्यक्तित्व के कारण ब्रज का धार्मिक व्यक्तित्व भारतव्यापी हो गया है, जहाँ धर्म की साधना का मर्म सन्निहित है, अध्यात्म की सिद्धि है और साधना एवं सिद्धि में अभेद स्थापित हो गया है। अद्भुत संगठन-शक्ति सहज मानवीयता, क्रांतिकारिता तथा दूरदर्शिता ने उन्हें सहज ही में लोकनायक बना दिया था और उनके मनन, चिंतन तथा पथप्रदर्शन ने तत्ववेत्ता। उनकी अप्रतिहत प्रतिभा से आज तक हमारे धार्मिक जीवन तथा विश्वासों का प्रत्येक अंग प्रभावित है। नृत्य, गीत, वादित्र, सौन्दर्य, वाग्मिता, राजनीति, योग्य, अध्यात्म, ज्ञान, वीरता, प्रेम तथा वैराग्य सबका एकत्र समवाय कृष्ण ही में पाया जाता है। वे सोलहों कला के अवतार कहे गये हैं। इसीलिए कहा भी गया है—'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।' सच तो यह है कि आज भी वे हमारी राष्ट्रीय संस्कृति के प्रतिनिधि बने हुए हैं। खेद का विषय है कि ऐसी महिमाशाली विभूति के व्यक्तित्व का अध्ययन समन्वित रूप से पूर्णतः नहीं हो पाया है। इस निबंध में इस चरित्र के विश्लेषण का लघु प्रयास प्रस्तुत किया गया है।

श्रीकृष्ण की सब लीलाओं और उनके जीवन की सम्पूर्ण घटनाओं का सूत्रपात एक ही केन्द्र से संचालित होता हुआ दिखलाई देता है; अतः हार्पकिंस, कीथ और मैकडानल प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों की यह स्थापना कि 'श्रीनामधारी अनेक व्यक्ति हुए और उनके चरित्रों का एक ही में समन्वय कर लिया गया' युक्तिसंगत नहीं जान पड़ती है। एक विचारणीय बात यह है कि वेदों और उपनिषदों के निर्माण-काल के संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, पर इतना तो निर्विवाद है कि वे अनेक रचयिताओं द्वारा रचे गये हैं और उनकी रचना-काल की अवधि बहुत व्यापक एवं विस्तीर्ण है।

वैदिक काल से ही श्रद्धामूलक भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ दिखाई पड़ता है और धीरे-धीरे आर्यों का आरम्भिक देवतावाद भी एकदेववाद में परिणत होने लगा था। वैदिक मंत्रों में अग्नि को वरुण, मित्र, इन्द्र तथा अर्यमा सभी कुछ कहा गया है।[1] विद्वान्

लोग उसी (सत्) को इन्द्र, मित्र, वरुण व अग्नि के नाम से पुकारते हैं और वही विशाल पंखों वाला दिव्य गरुड़ भी है।[२] वैदिक उपासना श्रद्धा-भक्ति का ही एक रूप जान पड़ती है। भारतीय भक्ति-सम्प्रदाय का आदि स्रोत ऋग्वेद ही है।[३]

देवऋचाओं में इन्द्र, वरुण, सूर्य आदि के प्रति कही हुई ऋचाओं से विष्णु के प्रति कही हुई ऋचाएँ कम हैं, पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि विष्णु सर्वप्रिय देवता नहीं थे। कहीं पर इन्द्र और विष्णु लोक रक्षा में तत्पर होकर एक दूसरी की सहायता करते हैं और कहीं पर विष्णु को इन्द्र से श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है और एक स्थल पर वे वामन रूप में इन्द्र की सहायतार्थ उपस्थित होते हैं। संभवतः इसी कारण उनका नाम उपेन्द्र हुआ। इतना होने पर भी विष्णु का स्थान महत्वपूर्ण है, और आगे चलकर वह अधिक महत्ता प्राप्त करता ही गया।[४] 'तदस्य प्रियमभि पाथो अश्याम' तथा 'महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे' आदि में वैष्णव-भक्ति के बीज मिल जाते हैं।[५] इतना ही नहीं, आगे चलकर भक्ति-ग्रन्थों में जो श्रवणं,[६] कीर्तनं[७], विष्णोः[८] स्मरणं[९] आदि नवधाभक्ति का विधान है, उसका आंशिक उल्लेख वैदिक ग्रन्थों में मिल जाता है।[१०-११] इस काल में उपास्य के व्यक्तित्व की कल्पना विकसित नहीं हो पाई थी। ऋग्वेद में विष्णु को आदित्य समझा गया है जहाँ वे दिन भर की यात्रा को केवल तीन पगों में ही पूरी कर देते हैं :—

१. त्रीणि पदानि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।

ऋग्वेद १-२२-१८।

२. इदं विष्णु विचक्रमे त्रेधा निदधेपदम्।

ऋग्वेद १-२२-१७।

---

१. ऋग्वेद ५-३-१२।
२. १-१६४-४३।
३. हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता। डाक्टर बेनी प्रसाद, पृ० ४२।
४. Volume of Studies in Indology Presented to Mr Kane (Vishnu in the Vedas, by R. N. Dandeker, P, 90)
५. वैष्णवधर्म का विकास और विस्तार (कृष्णदत्त भारद्वाज एम० ए० आचार्य, शास्त्री, कल्याण, वर्ष १६ अंक ४)।
६. ऋक्० १-१५६-२।
७. ऋक्० १-१५४-१।
८. ऋक्० १-१५५-४४।
९. ऋक्० १-१५४-४।
१०. वेदों में नवधाभक्ति, कृष्णदत्त भारद्वाज एम० ए०, कल्याण, वर्ष २० अंक ५।
११. भारतीय साधना और सूर साहित्य, मुंशीराम शर्मा पृ० २४-२७।

३. द्वे इदस्य क्रमणे स्वर्दृशोभिख्याय मर्त्यो भूरण्यती ।
ऋग्वेद १-४०-१७ ।

४. तृतीयमस्यनकिरादधर्षतिवयश्चन पतयन्तः पतत्रिणः ।
ऋग्वेद १-१५५-५ ।

५. ताद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दि वीव चक्षुराततम् ।
ऋग्वेद १-२२-२० ।

६. उरुक्रमस्य सहि बन्धुरित्था, विष्णोः पदे परमे मध्वउत्सः ।
ऋग्वेद १-१५४-५

इसी प्रकार विष्णु का नाम कहीं कहीं "ऋतुस्य गर्भम्' आदि प्रसंगों में 'यज्ञ के बीज रूप देवता' अथवा ब्राह्मणों की रचना के समय तक 'यज्ञोह वैः विष्णु' आदि द्वारा स्वयं यज्ञ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और वे यज्ञों की सफलता में बहुधा सहायक भी समझे गये हैं। विष्णु को यज्ञ समझ कर उसे शक्तिशाली समझा गया। 'विष्णु' शब्द का अर्थ व्यापनशील, 'पृष्ठ पर हो कर' तथा विश् (वैश्य) वैश्यों के देवता के रूप में आगे चल कर किया गया। आगे चल कर विष्णु को 'अग्नि' कहा गया है। अग्नि और सूर्य में कोई अन्तर नहीं रख गया है। अंशुमती नदी के तट पर दस सहस्र योद्धाओं के साथ सामन्त कृष्ण को इन्द्र का मद चूर्ण करते हुए पाते हैं,[१२] और पन्द्रहवीं ऋचा में अंशुमती नदी के किनारे दैदीप्ययान तेज के साथ वे प्रकट होते हैं और उनके द्वारा प्रस्तुत किया हुआ सोम, बृहस्पति के कहने पर सब देवता और इन्द्र पीते हैं। तदुपरान्त दैत्यों का संहार करते हैं।[१३] इस प्रकार कहीं विष्णु को इन्द्र का सहायक[१४] माना गया है, अथवा जहाँ-तहाँ उनकी वीरता व पराक्रम की प्रशंसा एक समान रूप से की गई है।[१५] कभी-कभी उन्हें इन्द्र से बड़ा तक स्वीकार कर लिया गया है।[१६] वैदिक काल के अन्त में ही देवताओं के राजा इन्द्र, विष्णु की प्रतियोगिता में नीचा देखते हुए से जान पड़े और देवेन्द्र का पद एक प्रकार से क्रमशः छिना जाता हुआ इन्द्र के हाथ से निकलकर विष्णु के हाथ में पहुँच गया। अंत में विष्णु की विजय यहाँ तक पूरी हो गई कि बहुत कुछ इन्द्र सूक्त के ही समान एक 'विष्णुसूक्त' की रचना कर दी गई और इन्द्र के लिए प्रयुक्त अनेक महत्तासूचक शब्द विष्णु के विषय में भी प्रायः ज्यों के त्यों व्यवहृत होने लगे।[१७]

---

१२. ऋग्वेद ८ सू० ९६ ।
१३. ऋ० ८ मं० ९६ सू० ऋ० १५।
१४. इन्द्रस्य युज्यः सखा। वही, १-२२-१९ ।
१५. ऋग्वेद ६-६९ ।
१६. ऋग्वेद ७-९९ ।
१७. वैष्णव धर्मः परशुराम चतुर्वेदी पृ० १४-१५ ।

शिव का स्थान भी विष्णु को सरलता से नहीं मिला था। इसके लिए अत्यन्त दीर्घकालीन और भयानक-संघर्ष हुआ था। जैसे पहले इन्द्र और विष्णु की प्रतिद्वंद्विता दिखलाई पड़ती थी वैसी ही प्रतिद्वंद्विता शिव और विष्णु में भी हुई। पहले शिव का दौर-दौरा था। फिर शिव और शैवों को परास्त कर विष्णु की प्रधानता हुई।[१८] इस सम्बन्ध में डा० सत्येन्द्र ने महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हुए स्थिति को इस प्रकार स्पष्ट किया है—"इस समस्त प्रकृति में अनार्यों तथा आर्यों का घुलमिल जाना ही निहित नहीं है, वरन् उनके रूपान्तरों का होना निहित है। शिव की प्राधान्यद्योतक कथाएँ आर्यों से पूर्व की माननी जानी चाहिए। शिव का रुद्रके साथ संयोग और त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश की कल्पना सामंजस्य एवं समन्वय का परिणाम है।[१९]

वैदिक-कालीन सूर्य, अग्नि, यज्ञ और इन्द्र एवं वरुण का सम्मिलित व्यक्तित्व बाद में श्रीकृष्ण में समाहित हुआ। इस प्रकार श्रीकृष्ण के स्वरूप की पूर्व रेखा उपस्थित की जा सकती है, जिसके सूत्र वैदिक-साहित्य में इधर-उधर बिखरे मिलते हैं। गोवर्द्धनधारी कृष्ण तो इन्द्र से भी श्रेष्ठ दिखाये गये हैं। आगे उनका स्वरूप क्रांतिकारी का हो उठा। वे दुर्दमनीय हो उठे। वे राष्ट्रीय विजय के प्रतीक बने। इस सबका सारगर्भित विवेचन डा० सत्येन्द्र ने अपनी 'सूर की झाँकी' नामक पुस्तक में किया है।[२०] डा० मुन्शीराम शर्मा ने ऋग्वेद में प्रयुक्त राधा, गौ, व्रज, कृष्ण तथा अर्जुन के विषय में शंका उठाई है। उनका कहना है कि ये सभी शब्द विशिष्ट अर्थ रखते हैं और व्यक्तिवाचक संज्ञाके अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुए हैं। उनका कहना है:—"इस प्रकार वेद में जो राधा, कृष्ण, अर्जुन आदि शब्द आये हैं, वे ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम नहीं हैं। ऐतिहासिक व्यक्तियों एवं पदार्थों के नाम वेद के शब्दों को देखकर रखे गये हैं। वेद के शब्द पहले हैं, ऐताहासिक व्यक्ति बाद में हुए।"[२१]

आगे चलकर वे स्वयं लिखते हैं:—'···इसका यह अर्थ नहीं है कि इन नामों से सम्बद्ध इतिहास सब का सब कल्पित है। राम, कृष्ण, परशुराम, व्यास आदि व्यक्ति शुद्ध रूप से ऐतिहासिक हैं। इनमें केवल अवतार-भाव कवि-कल्पना-प्रसूत है।"[२२] इस सम्बन्ध में यह भी विचारणीय है कि अवतारवाद, भक्ति तथा पूजा यह उत्तर-वैदिक-काल अथवा उससे भी बाद की वस्तु हैं। श्रीकृष्ण के अवतार के सम्बन्ध में पुराणों में जैसी लीलाएँ वर्णित हुई हैं, उन सबका आधार बीजरूप ऋग्वेद के मन्त्रों में ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न करना केवल बौद्धिक व्यायाम ही होगा। डा० हरवंशलाल का यह कहना कि सारा ही वैदिक साहित्य किसी न किसी रूप में पुराणों में आगया है, आंशिक रूप से ही ग्रहण किया जायगा।[२३]

---

१८. सूर की झाँकी डा० सत्येन्द्र पृष्ठ १३-१४।

१९-२०. सूर की झाँकी डा० सत्येन्द्र पृष्ठ १३-१८।

२१. भारतीय साधना और सूर साहित्य डा० मुन्शी राम शर्मा पृ० १६६।

२२. भारतीय साधना और सूर-साहित्य-डा० मुन्शीराम शर्मा पृष्ठ १६६।

२३. सूर और उनका साहित्य-डॉ० हरवंशलाल शर्मा पृष्ठ १६६।

विष्णु के अतिरिक्त वैष्णव धर्म के उपास्यदेव का एक नाम 'नारायण है जो वैदिक साहित्य के अन्तर्गत अनेक स्थलों पर आया है।[२४] इस 'नारायण' शब्द की वैदिक देवता वाची 'विष्णु' शब्द से यह विशेषता है कि इस नाम से पुकारे जाने वाले देवता एक प्रकार से सृष्टि-विषयक भावना के भी केन्द्र बन जाते हैं।[२५] तैत्तिरीय आरण्यक के अन्तर्गत नारायण की विभूति का प्रायः वही वर्णन है जो ऋग्वेद के उपर्युक्त प्रसंग में है।[२६] 'शतपथ ब्राह्मण' में नारायण के लिये 'पुरुषनारायण' शब्द का प्रयोग हुआ है।[२७] तैत्तिरीय आरण्यक में इसी परमात्मा-स्वरूप नारायण को हरि भी कहा गया है जो पहले इन्द्र के लिए व्यवहृत होता रहा और आगे चलकर 'विष्णु' का एक नाम हो गया।

हमारे विचार से प्रगाढ़ भक्तिभाव का सर्वप्रथम उद्रेक तभी परिलक्षित हुआ होगा जबकि वैष्णव धर्म के विकसित रूप सात्वत वा भागवत धर्म सम्बन्धी विचारों का प्रचार होने लगा था। सात्वतधर्म के मुख्य उपास्यदेव वासुदेव-कृष्ण थे और वे ही उसके मूल प्रवर्त्तक भी थे। कालान्तर में ये दोनों शब्द एक दूसरे के पर्याय बन गये और इनके द्वारा अभिहित किये जाने वाले "वासुदेव एवं कृष्ण को दो भिन्न-भिन्न मानना न्यायतः असम्भव हो गया।[२८] अन्त में एक स्थिति ऐसी आई कि जब वासुदेव-कृष्ण भी विष्णु नारायण से मिलकर अभिन्न हो गये।

'वासुदेव-कृष्ण' शब्द का दूसरा अंश अर्थात् 'कृष्ण' शब्द 'ऋग्वेद' (मण्डल ८) के एक 'सूक्त' के ऋषि व रचयिता के रूप में आया है और इसके तीसरे और चौथे मन्त्रों के ऋषि अपने को स्वयं भी कृष्ण कहते हुए जान पड़ते हैं।[२९] अनुक्रमणी के रचयिता ने उसी कृष्ण को आंगिरस गोत्रोत्पन्न भी बतलाया है और कौशीतकी ब्राह्मण में भी उसी कृष्ण आंगिरस का उल्लेख मिलता है।[३०] इधर छांदोग्य उपनिषद् के अनुसार के देवकी पुत्र कृष्ण घोर आंगिरस के शिष्य थे[३१] और उस 'कौशीतकी ब्राह्मण' के प्रसंगानुसार वे ऋषि सूर्य के उपासक भी थे।[३२] देवकी पुत्र कृष्ण ने जो उपदेश अपने गुरु घोर आंगिरस से ग्रहण किये थे, उन्हीं के अनुसार वासुदेव-कृष्ण ने भी 'गीता' द्वारा अपने अर्जुन को

---

२४. ऋग्वेद-१ × ३५ + ५-६-९, ऋग्वेद १०-८२-५-६

२५. भांडारकर वैष्णवनिज्म, शैविज्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स पृ० ४१।

२६. तैत्तिरीय आरण्यक १० + ११।

२७. शतपथ ब्राह्मण, १२ + ३ + ४।

२८. रायचौधुरी-: अर्ली हिस्ट्री अव् दी वैष्णव सेक्ट, पृ० १८-१९

२९. ऋग्वेद ८-८५-३।

३०. कौशीतकी ब्राह्मण ३०-६।

३१. छांदोग्य उपनिषद् ३-१७-६।

३२. कौशीतकी ब्राह्मण ३०।

उपदेश दिया। दोनों ग्रन्थों की अनेक अंशों की तुलना निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं :—

छांदोग्योपनिषद्	श्रीमद्भगवद्गीता
१. तपोदानमार्जवमहिंसासत्यवचनमिति (३।१७।४)	१. दानंदमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्। अहिंसा सत्यम् (१६।१-२)
२. सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयंप्रतिपद्येत। अक्षितमस्यच्युत मसि प्राण संशितमसीति। (३।१७।६)	अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् (८।५), प्रयाणकाले··· यदक्षरं वेदविदोवदन्ति(८।१०-११)
३ उद्वयं तमस्परिज्योतिः पश्यन्त उत्तरम्। देवदेवत्रा सूर्यम्। (३।१७।७ में उद्धृत यजुर्वेद)	३. सर्वस्य धातामचिन्त्य रूपमादित्यवर्णतमसः परस्तात्। (८।९)।

इस शिक्षा-साम्य के आधार पर छांदोग्योपनिषद् के देवकी-पुत्र कृष्ण तथा गीता के प्रवचनकर्ता को एक ही मानना युक्तिसंगत है।

वैष्णवों के उपनिषदों में 'कृष्णोपनिषद्,' 'गोपालतापनीयोपनिषद्' तथा 'वासुदेवोपनिषद्' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, जिनमें श्रीकृष्ण को शाश्वत ब्रह्म माना है और सोलह हजार रानियाँ उपनिषद् की ऋचाएँ ही कही गई हैं। श्रीकृष्ण के अचिंत्य स्वरूप का विवेचन इन सब में मिलता है।

वासुदेव का व्यक्तिवाचक संज्ञा तथा 'कृष्ण' का गोत्र नाम होना बौद्धों के 'घट-जातक' और 'महाउम्मग्ग' जातक में आए हुए प्रसंगों से सिद्ध होता[३३] है और पांतजलि के महाभाष्य में आए हुए दो स्थलों की तुलना करने[३४] पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उनके समय में वासुदेव और कृष्ण को लोग एक ही व्यक्ति समझते थे।[३५]

इस विषय पर एच० सी० राय चौधरी ने 'अर्लीहिस्ट्री आव् दि वैष्णव सेक्ट'[३६] में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है तथा शिशिरकुमार मित्र ने 'दि विजन आव इण्डिया' में प्रकाश डाला है। इस सम्बन्ध में 'दि एज आव् इम्पीरियल यूनिटी'[३७] नामक पुस्तक भी दृष्टव्य है।

पाणिनि कृष्ण शब्द का तो नहीं, परन्तु 'वासदेव' शब्द का अर्जुन के साथ प्रयोग करते हैं। (वासुदेवार्जुनाभ्यांवुज ४-३-९८)। कृष्ण वसुदेव के पुत्र थे। अतः वे वासुदेव

३३, ३४. भांडारकर वै० शै० पृ० १५-१६।

३५. प्रहारादृश्यन्ते कन्सस्य च कृष्णस्य च, असाधुर्मातुले कृष्णः, तथा जघान कंसं-किल वासुदेव।

३६. Grierson mentioned the antiquity of Bhagwata religion in Panini's time on the basis of his knowledge of Vasu Deva as a deity—(J. R. A. S. 1909, P 122).

३७. Sir R. G. Bhandarkar agrees with the views (J. R. A. S. 1910, P 170, Vasu Deva of Panini, IV 3-98).

कहे जाते हैं। महाभाष्यकार पांतजाले लिखते हैं कि कृष्ण ने कंस को मारा। फिर दूसरे स्थान पर लिखते हैं कि वासुदेव ने कंस को मारा। इस प्रकार कृष्ण और वासुदेव एक ही है, यह असंदिग्ध है। १-२-३।[३८]

महाभारत में श्रीकृष्ण के बाल चरित्र का उल्लेख नहीं है। यहाँ श्रीकृष्ण का नाम सर्वप्रथम 'आदिपर्व' के अन्तर्गत द्रौपदी स्वयम्वर में आया है। अर्जुन के लक्ष्यभेद के पश्चात् श्रीकृष्ण पुनः पाण्डवों का परिचय बलराम जी को देते हैं।[३९] वास्तव में श्रीकृष्ण ही पांडवों की विजय के मूल कारण थे।[४०] श्रीकृष्ण[४१] उज्ज्वल कोटि के उज्ज्वल चरित्र वाले महापुरुष चित्रित किये गये है। वे युद्ध-नीति-विशारद, दूरदर्शी राजनीतिज्ञ, वीर एवं तेजस्वी महापुरुष होने के साथ उच्चकोटि के दार्शनिक थे। शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक दृष्टियों से अत्यन्त विकसित, अत्यन्त उदात्त, उच्चकोटि के मानव रूप में साक्षात् ईश्वर थे। सम्पूर्ण महाभारात में अनेक स्थलों पर श्रीकृष्ण बलिष्ठ शरीर वाले, योद्धा, नीति-निपुण, रण-विशारद, राजदूत, सच्चे मित्र, अत्यन्त दक्ष सारथी तथा अत्यन्त विनय-सम्पन्न, इन्द्रिय-विजयी, सत्यवादी, वेदों में विद्वान् तथा योगाचार्य कहे गये हैं।[४२] परीक्षित को जीवित करने के समय उनके मुख से जो वाक्य निकले थे, वे उनके समस्त जीवन की समस्त साधना को नितान्त स्पष्ट कर देते हैं।[४३] द्रोणपर्व अध्याय में धृतराष्ट्र ने संजय से श्रीकृष्ण के बलपराक्रम का वर्णन किया है, जिसमें उनके बाल्यावस्था में ही वृषभासुर, प्रलम्ब, नरकासुर, कंस आदि के मारने का उल्लेख है। भीष्मपर्व में अध्याय ६५ से ६७ तक विश्वोपाख्यान है, जिसमें श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक विकास का चित्रण ईश्वर के रूप में किया गया है। इस सम्बन्ध में महाभारत के सभापर्व, उद्योगपर्व तथा शांतिपर्व विशेष उल्लेखनीय हैं जहाँ श्रीकृष्ण का ईश्वरत्व और अलौकिकत्व प्रतिभासित होता है।

महाभारत की कथा और जीवन का सत्य हमारे समक्ष जीवन का कठोर सत्य उपस्थित करता है। महाभारत में श्रीकृष्ण का सार्वजनिक एवं लोकोपकारी जीवन चित्रित किया गया है। परन्तु आगे चल कर पुराणों में श्रीकृष्ण का पारिवारिक एवं कौटुम्बिक जीवन की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। सम्पूर्ण महाभारत में श्रीकृष्ण पांडवों के हित में तत्पर हैं—वे न्याय एवं धर्म की रक्षा में तत्पर हैं। यहाँ वे कुछ

---

३८. V. S. Agarwal Ph—D.,D. Litt. 'India, As known to Panini' Page 388-394.

३९. महाभारत, आदि पर्व १९१-२०-२१-२२।

४०. आदि-पर्व २०९-९८।

४१. भीष्मपर्व ४२-७८।

४२. महाभारत, सभापर्व अ० ३८, शांतिपर्व, उद्योगपर्व ४६।

४३. अश्वमेधिक पर्व ६९-१९-२०-२२-२३-२४।

कुटिल राजनीति की चालों को भी पांडवों की विजय के लिए नितान्त-निस्वार्थ भाव से अपनाते हैं।[४४]

श्रीमद्भगवत् गीता में भगवान् कृष्ण का परमैश्वर्ययुक्त सर्वतोमुखी तथा प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तित्व मिलता है। वे पूर्णब्रह्म और स्वयं परमात्मा स्वरूप थे, जिन्हें योगेश्वर कहा जाता है। महाभारत में श्रीकृष्ण का महाबल, निपुणता तथा शक्ति देखकर कहा गया था—

योगी योगेन संयुक्तो योगिनाभीश्वरोऽपि।

भगवान् पुरुषोत्तम भी सब भूतों के माहेश्वर हैं।[४५] अवतार तत्त्व विषयक सिद्धान्त मानव-जाति को एक आध्यात्मिक सन्देश सुनाता है।[४६] वे अव्यय, अजन्मा तथा सब प्राणियों के ईश्वर होने पर भी अपनी प्रकृति को आधीन करके आत्म-माया से प्रकट होते रहते हैं।[४७] गीता में ये योगीश्वर श्रीकृष्ण वे भगवान् हैं जो सगुण-निर्गुण दोनों हैं; जो क्षर-अक्षर दोनों हैं और क्षराक्षर के ऊपर दोनों को धारण किए रहते हैं। श्रीकृष्ण अविनाशी, कारण, महद् ब्रह्म, अमृत तथा अखण्ड एक रस आनन्द के आश्रय बताये गये हैं।[४८] कृष्ण के सर्वातीत और सर्वमय रूप (समग्र स्वरूप) को सम्यक् रूप से जान कर जो उनकी उपासना होती है वही श्रीकृष्ण की यथार्थ उपासना है। गीता में कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीनों का समन्वयात्मक रूप उपस्थित कर उन्हें सर्वव्यापक बता कर चित्रित किया है। इस प्रकार अब तक कृष्ण का रूप विष्णु, नारायण, हरि तथा वासुदेव था, पर पौराणिक काल तक आते-आते कृष्ण का 'गोपाल' रूप भी उभड़ आया।

भक्ति-आन्दोलन में दक्षिण का महान् योग है। इसी काल के आसपास भक्त आडवारों का समय है जो संख्या में बारह थे। दक्षिण भारत के इन वैष्णाव भक्त साधकों की उपासना पद्धति नायक-नायिका भाव से सम्बन्ध रखती है जिसका स्वरूप इस प्रकार समझा जा सकता है।

"आडवारों के तामिल प्रबन्धों द्वारा सूचित होने वाले श्री वैष्णव धर्म में एक विशिष्ट प्रकार के प्रेम का वर्णन है जो आत्मा एवं परमात्मा के बीच उत्पन्न होता है। यह लगभग उसी प्रकार का है जैसा उत्तरी भारत के चैतन्यदेव ने प्रतिपादित किया था। अन्तर केवल इतना ही है कि विशिष्टाद्वैती ढंग का है।"[४९] ये आडवार भक्त भगवान् की उपासना करते समय अपनी भक्ति को यौन-सम्बन्धी प्रेम का रूप देते थे

४४. डा० मुंशीराम शर्मा, 'महाभारत और श्रीकृष्ण' (कन्हैयालाल अभिनन्दन ग्रन्थ) पृष्ठ ६९६।

४५. गीता अ० ४ श्लोक ६।

४६. गीता ४।७-८।

४७. गी० अ० ९ श्लोक २९।

४८. गीता अ० १४ श्लोक २७।

४९. मध्यकालीन प्रेमसाधना: परशुराम पृ० १८३।

और उनकी विरह-विषयक प्रेमकथाओं द्वारा अपने हृदयों को सान्त्वना भी दिया करते थे। भगवान् के प्रति दाम्पत्य प्रेम के रूप में प्रदर्शित ये भाव आडवर सरी शठगोप तथा तिरु मंगई (परकाल) तथा आंडाल में मिलता है। नम्म आडवार (शठ गोप) मीराबाई के समान यह समझते थे कि पुरुष रूप केवल भगवान् के ही उपयुक्त है और उनके समक्ष सम्पूर्ण विश्व स्त्रीवत् है। इस कारण भगवान के प्रति गम्भीर प्रेम के भाव में आकर शठगोप स्वयं भी स्त्री का रूप धारण करते थे। गोदा आडवार मीराबाई की भाँति उधर प्रसिद्ध हैं। गोदा के पिता पेरियावाड़ने उन्हें श्रीरंगनाथ भगवान् के प्रति समर्पित किया था जिन्हें उन्होंने पतिरूप में स्वीकार कर लिया था। गोदा ने अपने को प्रसिद्ध गोपी के रूप में मान लिया था और उनका व्यवहार भी तद्रूप था। प्रो० हूपर का कहना है कि जिस प्रकार की भक्ति 'श्रीमद्भागवत पुराण' में बतलाई गई है, वह ठीक-ठीक वही है जो आडवारों की है—श्रीकृष्ण की मूर्ति को ओर टकटकी लगाये हुए गहरे भावों को व्यक्त करना, उसका गुणानुवाद करना, उसका ध्यान करना, उनके सत्संग में निरत रहना, प्रेमभाव से उनका आदर-सत्कार करना और श्रीकृष्ण लीला का वर्णन करते रहना आदि कुछ इस प्रकार की बातें हैं जो दोनों में समान पाई जाती हैं।"[50] यदि यह बात दोनों की तुलना करने पर सिद्ध की जा सकती है तो एक दूसरे द्वारा प्रभावित होने तथा 'श्रीमद्भागवत पुराण' के निर्माण-काल पर प्रभाव डाल सकती है। संभवतः इसीलिए डा० फर्कुहर का तो यहाँ तक अनुमान है कि इस पुराण की रचना किसी आडवाड़-तुल्य वर्ग के बीच हुई होगी।"[51] इन वैष्णव-भक्तों को संग्रह का संकलन दसवीं शताब्दी में 'नाथमुनि' ने संभवतः 'नम्मालवार' के सम्पादकत्व में किया। उनके गीतों में उच्चकोटि की भक्ति-भावना निहित है और इनकी जीवन-चर्या से प्रतीत होता है कि ये उच्चकोटि के साधक थे। इनके पदों में वह भाव निहित है जो आगे चलकर, 'पुष्टि-मार्ग' और चैतन्य सम्प्रदाय की भक्ति भावना के प्रेरक हुए। Kings Bury and Phillips ने इन पदों का अँग्रेजी अनुवाद भी किया है। डा० पोप इन गीतों के विषय में लिखते हैं :—

The fact of these songs-full of living faith and devotion was great and instantaneous. South India needed a 'Personal God', an assurance of Immortality and a call to prayer. These it found in Manikk Vasar composition."

इन वैष्णव-भक्तों ने भक्त और ईश्वर का सम्बन्ध स्त्री-पुरुष के मधुर सम्बन्ध के समान माना है। गोविन्दाचार्य ने अपनी "The divine wisdom of Dravidian Society" नामक पुस्तक में इन भक्तों के गीतों का अनुवाद किया है -"I shall wed, if at all, none other than Supreme Lord." इन भक्तों ने श्रीकृष्ण के बाल रूप और कृष्ण रूप का भी विस्तार से वर्णन किया है। डा० हर-

५०. J. S. M. Hooper: Hyms of the Alvars P. 18.
५१. Religious literature of India P. 231
५२. सूर और उनका साहित्य, डा० हरबंशलाल शर्मा पृ० १२८।

वंशलाल शर्मा का यह कहना यथार्थ ही है—"वस्तुत: समस्त वैष्णव सम्प्रदायों के मूल में इन संतों के गीतों की भाव-धारा ही रस उँडेलती दीख पड़ती है।......उन भक्तों की गीत परम्परा, भाव रूप में ही सही, मध्यभारत और महाराष्ट्र को अपनी ध्वनि से गुंजरित करती हुई उत्तरी भारत की ओर प्रवृत्त हुई और आचार्यों ने उन विचारों को व्यवस्थित रूप में ढाल कर प्रचार करना प्रारम्भ किया। सबसे पहले आचार्य शंकर हुए।"[५२] मध्वाचार्य, रामानुज, निम्बार्काचार्य तथा वल्लभाचार्य सभी दाक्षिणात्य वैष्णव आचार्य इन संतों तथा उनके गीतों से बहुत प्रभावित हुए।"

श्रीकृष्ण के 'गोपाल-कृष्ण' के व्यक्तित्व के विषय में शंका उठाई गई है और बालकृष्ण की उपासना को विदेशी बताने का प्रयत्न किया गया है, इसी सम्बन्ध में डा० भंडारकर का कहना है कि ईसा के पूर्व पहली शताब्दी तक के किसी भी प्रामाणिक भागवत सम्बन्धी ग्रन्थ (अथवा शिलालेख में भी) गोपाल-कृष्ण की चर्चा नहीं पाई जाती है और न उसका कोई परिचय उपलब्ध होता है। इसके विरुद्ध ईसा के विरुद्ध ईसा के अनन्तर आने वाली शताब्दियों की ऐसी सामग्रियाँ इस कृष्ण की अनेक कथाओं से भरी पड़ी हैं जिनसे अनुमान किया जा सकता है कि उक्त दोनों के बीच कोई न कोई नवीन बात हुई होगी। यह बात या घटना, डा० भंडारकर के अनुसार, किसी आभीर जाति का पश्चिम के देशों से घूमते हुए आकर भारतवर्ष में मथुरा-प्रदेश के आसपास से लेकर सौराष्ट्र तथा काठियावाड़ के प्रांतों तक के क्षेत्र में फैल कर बस जाना है। इस जाति की मुख्य जीविका गायों का रखना और चराना थी। इसका आराध्य—देव भी एक बालक था, जिसे ईसा की दूसरी शताब्दी तक वासुदेव में सम्मिलित कर लिया गया। क्राइस्ट के नाम साम्य के कारण बालक कृष्ण की अनेक लीलाएँ ईसा मसीह की जन्मकथाओं के ढर्रे पर रच ली गई और पीछे लिखे जाने वाले 'विष्णु-पुराण, हरिवंश तथा भागवत वैवर्तपुराण' आदि ने उसमें और अधिक वृद्धि कर दी।[५३] यह मत अब ग्राह्य नहीं रहा। तामिल-प्रदेश में आभीरों को 'अयर' कहते हैं, जिनके नाम का अकार गाय का अर्थ सूचित करने वाले 'आ' से बना सिद्ध होता है और जिनकी प्राचीन जातीय परम्पराओं से प्रकट होता है कि वे प्रसिद्ध पांड्यों के साथ ईसा से कई शताब्दी पहले यहाँ आये थे।[५४] दूसरी बात इस सम्बन्ध में यह कही जा सकती है कि गोपाल-कृष्ण की कल्पना तथा बहुत-सी उनकी बाल लीलाओं की कथाओं का मूल स्रोत वैदिक साहित्य के अन्तर्गत विष्णु देवता के प्रसंग में ही वर्तमान है। डा० हरवंशलाल शर्मा और डा० मुंशीराम शर्मा आभीर जाति को विदेशी न मानने के पक्ष में हैं। डा० ताराचन्द तथा डा० ग्रियर्सन कृष्ण के व्यक्तित्व में इस्लाम तथा ईसाई धर्म के तत्त्व ढूंढ़ निकालने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु भारतीय-भक्ति परम्परा से परिचित विद्वान् इस भ्रमात्मक प्रभाव को स्वीकार नहीं कर सकेंगे। यद्यपि डा० आर० जी० भंडारकर इसी पक्ष में रहे। स्त्रियों को अधिक स्वतन्त्रता एवं स्वच्छन्दता आभीर समाज में सदा से रही है, और यह यौन-सम्बन्ध-स्वच्छन्दता भारत में अनेक जातियों में विद्यमान है। इतना होने पर भी

---

५३. भांडारकर : वै० शै० पृ० ४९-५० तथा ५२।

५४. कनकसमाई : तामील्स, एटीन हंड्रेड इयर्स एगो, पृ० ५७।

श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व के संश्लेषणात्मक स्वरूप मानने में आपत्ति नहीं हो सकती है। इनके व्यक्तित्व-निर्धारण में वैदिक-अवैदिक तथा आर्य-अनार्य (कोल-किरात एवं द्रविड़) सभी प्रकार के तत्वों का सामंजस्य है। शाक्तों और तांत्रिकों तथा वज्रयानी बौद्धों का प्रभाव पड़ा है। हम पाश्चात्य अथवा इसलामी प्रभाव न मानकर जैन-बौद्ध धर्म तथा द्रविड़ प्रभाव को ग्रहण करने के पक्ष में हैं। नागपूजा, अग्निपूजा तथा यक्षपूजा सभी अनार्य तत्त्व हैं और इन सब का कृष्ण के व्यक्तित्व-निर्माण मे कुछ न कुछ हाथ है। इस सम्बन्ध में यह विस्मृत नहीं करना चाहिए कि कृष्ण की जन्मभूमि मथुरा प्राचीन काल से बौद्ध और जैन धर्म का केन्द्र रही है। ब्रज-प्रदेश में विभिन्न पूजा-पद्धतियाँ चलती रही हैं। प्राचीन काल में इस भूमि पर कुशान, शक और हूणों का राज्य रहा है, अतः कृष्ण के अलंकरण तथा वेशभूषा में कुछ प्रभाव पड़ना सम्भव है।[५५,५६,५७]

वैसे तो सभी पुराणों में श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व का थोड़ा-बहुत वर्णन किया गया है किंतु यहाँ तीन ही पुराणों की चर्चा कीजायेगी जिसमें कृष्ण के व्यक्तित्व का विशदरूप से निरूपण किया गया है। ये पुराण हैं:—हरिवंश पुराण, श्रीमद्भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त्त पुराण।

हरिवंश पुराण अपनी गाथात्मक अथवा लौकिक शैली के कारण अन्य पुराणों की अपेक्षा प्राचीन जान पड़ता है। गोपाल-कृष्ण सम्बन्धी सबसे अधिक कथाएँ इसमें दी है। इस पुराण में पूतनावध, शकटभंजन, यमलार्जुनपतन, कालिय-दमन, धेनुक-बध, प्रलम्ब-बध एवं गोवर्द्धन-धारण आदि सभी लीलाओं की विशद चर्चा आई है। वर्षा और शरद के भी मनोहर वर्णन हैं। कृष्ण के सौन्दर्य का विशेष रूप से वर्णन किया गया है।[५८] कृष्ण से शून्य ब्रज गोपियों की दृष्टि में विशेष आकर्षक नहीं है। रासलीला का वर्णन भी विस्तार से हुआ है।[५९] विष्णु-पर्व में कृष्ण के द्वारा कंस के मारे जाने की भी कथा का विस्तार से वर्णन हुआ है।[६०]

हरिवंश पुराण में बालकृष्ण, किशोर-कृष्ण, युवा-कृष्ण तथा वयोवृद्ध एवं अनुभवी कृष्ण के व्यापक व्यक्तित्व का संश्लिष्ट चित्रण किया गया है। महाभारत में तो कृष्ण के योद्धा, वीर, नीतिज्ञ, राजनीतिक, योगेश्वर एवं दार्शनिक कृष्ण के स्वरूपों को स्पष्ट किया गया है, किन्तु यहाँ श्रीकृष्ण की समस्त जीवन की घटनाओं को लेकर उनके मानवीय एवं ईश्वरीय दोनों रूपों पर प्रकाश डाला गया है। वहाँ वे सौन्दर्य और शक्ति के अनन्त स्रोत दिखाये गये हैं। इस पुराण में द्वारिका एवं द्वारिकाधीश कृष्ण का वर्णन अधिक विस्तार से मिलता है। बालकृष्ण का वर्णन कम है। पाण्डवों से कृष्ण

---

५५. सूरदास और उनका साहित्य डा० हरवंशलाल पृ० १९२।
५६. भारतीय साधना और सूर साहित्य, डा० मुंशीराम शर्मा पृ० १६५।
५७. डा० ताराचन्द Imfluence of Islam in Indian culture P. 183.
५८. हरिवंश पुराण अध्याय २०।१९-२१।
५९. हरिवंश पुराण अध्याय १२।२७।
६०. हरिवंश पुराण अध्याय २०।२४-३५।

का सम्बन्ध नहीं दिखलाया गया है। यद्यपि हरिवंशकार कृष्ण को विष्णु के रूप में चित्रित करता है, फिर भी उसकी दृष्टि अधिकतर लौकिक पक्ष की ओर रहती है। ब्रह्म या विष्णु पुराणकार हरिवंश रचियिताकार की भाँति इसी लोक पर अपनी दृष्टि को आबद्ध नहीं करते; वे कृष्ण को परब्रह्म स्वरूप कहकर अपनी आध्यात्मिक भावना को प्रकट कर देते हैं। इस पुराण में माखन-चोरी, पनघट प्रस्ताव, चीरहरण, भ्रमरगीत आदि प्रसंगों की योजना नहीं है। गोपालकृष्ण की भावना का पूर्ण विकास मिलता है। इस पुराण में कृष्ण ने अपने पिता नन्द से गोवर्द्धन पूजा की प्रार्थना करते समय अपने को पशुपालक कहा है और अपना वैभव गोधन माना है। कृष्ण के साथ गाय, चरवाहा खेती और किसानी की कथाएँ देखकर तथा यह देखकर कि उनके भाई बलराम हल चलाते हैं, पश्चिम के विद्वानों ने यह अनुमान लगाया था कि पहले कृष्ण फसल के देवता रहे होंगे। कृष्ण को 'अन्नदेवता' मानने की यह कल्पना संभवतः इसी पुराण से उद्भूत हुई होगी।

यद्यपि श्रीमद्भागवत् में राधा का उल्लेख नहीं है तथापि कृष्ण भक्ति का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ श्रीमद्भागवत ही कहा जा सकता है। महाभारत काल से लेकर पौराणिक काल तक जितना भी कृष्ण का विवेचन हुआ वह सब समन्वित रूप में श्रीमद्भागवत में मिल जाता है। महाभारत में श्रीकृष्ण के जिस नारायण रूप का उल्लेख किया गया है, उसको भागवतकार ने इस प्रकार वर्णन किया है—'नारायण कृष्ण और शुक्ल स्वरूप धारण कर असुर-मर्दित पृथ्वी का भार उतारने के लिए कृष्ण और बलराम के रूप में अवतीर्ण हुए।'[६१]

श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व को बड़े व्यापक रूप से ग्रहण किया गया है। महाभारत में कृष्ण का परमब्रह्म से वैसा व्यापक सम्बन्ध नहीं दिखाया गया है जैसा गीता और श्रीमद्भागवत में है।[६२] गीता में ज्ञान, कर्म और उपासना का सामञ्जस्य स्थापित किया गया है किन्तु श्रीमद्भागवत में भक्ति को सर्वोपरि ठहराया गया है। श्रीमद्भागवत में अनेक अवतारों का वर्णन किया गया है परन्तु अन्य अवतारों को ब्रह्म का अंश रूप मान कर कृष्ण को पूर्ण ब्रह्म माना है। देवकी श्रीकृष्ण की स्तुति में उन्हें साक्षात् परम ब्रह्म मानती है। भागवत् में श्रीकृष्ण के असुरसंहारक, अद्भुत कर्त्ता बाल-कृष्ण, गोपी-विहारी, राजनीतिवेत्ता, कूटनीतिज्ञ, योगेश्वर और परमब्रह्म आदि सभी स्वरूप समाहित हो गए हैं। यहाँ श्रीकृष्ण का समन्वयात्मक व्यक्तित्व अत्यन्त व्यापक बन गया है। इसके अतिरिक्त श्रीमद्भागवत में भगवान के रसिकेश्वररूप की प्रतिष्ठा विशेष रूप से है। श्रीमद्भागवत में भगवान् कृष्ण पांडवों के सखा हैं। कुरुक्षेत्र के महायुद्ध के नियामक, वीर तथा पराक्रमी हैं। वे गीता के उपदेष्टा, साधुओं के परित्राता, पापियों के विनाशक तथा धर्म के संस्थापक एक साथ दिखलाई पड़ते हैं। वे मथुरा के महावीर योद्धा

---

६१. दशमस्कन्ध (पूर्वार्द्ध) आठवीं-नवीं अध्याय

६२. दशमस्कन्ध ८-४५। ३·१३, २४, २५।

६३. दशमस्कन्ध २३-२२।

तथा राजराजेश्वर कृष्ण भी हैं और गोकुल, ब्रज तथा वृन्दावन में बिहार करने वाल नन्द-नन्दन रसिक शिरोमणि तथा अनन्त सौन्दर्य के केन्द्र गोपाल-कृष्ण भी ।

श्रीकृष्ण ब्रज के परमानन्द हैं । प्रमुख रूप से भगवान् के प्रेम विह्वल भक्तों के परमानन्द दाता हैं । वे नटवर वेशधारी[६३] तथा मुरलीमनोहर[६४] तथा कदर्पदर्पहारी[६५] हैं । वे रसेश्वर, रसिश्वर एवं रासेश्वर हैं ।[६६]

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण निश्चित रूप से बहुत बाद की रचना है, जिसका निर्माण बहुत बाद में बंगाल में हुआ । इस संबंध में श्री हजारीप्रसाद जी का कथन है:—विष्णुपुराण में गोपियों के प्रेम की चर्चा है, पर भागवत-पुराण में वह बहुत विस्तृतरूप से है ।...ब्रह्म-वैवर्त्तपुराण में राधा प्रमुख गोपी है', रा० ब० योगेशचन्द्रराय का अनुमान है कि ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण १६ वीं शताब्दी के आसपास पश्चिम बंगाल में लिखा गया और उसके लेखक का गीतगोविन्द से परिचय था ।[६७] हम इसे इतना नया नहीं समझते हैं । हमारा अनुमान है कि यह ग्याहरवीं शताब्दी के अन्त में बना होगा । इसमें कृष्ण-चरित्र को अधिक पूर्ण रूप से चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है । श्रीकृष्ण की श्रृंगारी लीला का वर्णन है । राधा का वर्णन विशेष रूप से हुआ है । राधाकृष्ण के अनेक नग्न विलास के चटकीले वर्णन है । चंडीदास, विद्यापति तथा सूरदास सभी ने इस पुराण से प्रेरणा ली ।

पौराणिक साहित्य के अतिरिक्त श्रीकृष्ण का उल्लेख प्रारंभिक बौद्धों के सूत्रपटिक तथा ललित-विस्तार नामक ग्रंथों में हुआ है । विद्वानों ने अश्वघोष की निम्नलिखित पंक्ति में गोपालकृष्ण का सब से पुराना प्रामाणिक उल्लेख माना है—'ख्यातानि कर्माणिचयान सौरेः शूरादयस्तेष्वबला बभूवुः । "घटजातक तथा महाउम्मग' जातकों में श्रीकृष्ण का उल्लेख हुआ है ।

जैन साहित्य में वासुदेव हुंडी 'प्रधान ग्रंथ हैं जिनसे श्रीकृष्ण के चरित्र एवं व्यक्तित्व के विषय में जैनों के दृष्टिकोण को समझा जा सकता है । जैनियों में श्रीकृष्ण भावी तीर्थङ्कर मानते हैं । उपलब्ध कृष्ण चरित्र संबंधी स्वतन्त्र ग्रंथों में 'दि० पुनाट संघीय जिनसेन रचित 'हरिवंशपुराण' है जो कि शक सं० ७५ में रचित है । कृष्ण चरित संबंधी परवर्ती जैन ग्रंथों मे हरिवंशपुराण , चड़पन्न महर त्रिषष्ठी पुरुष-चरित्र, नेमि चरित तथा प्रद्युम्न चरित्र संज्ञक ग्रंथ हैं ।[६८]

हरिवंशपुराण के बाद विष्णुपुराण में भी वही बातें हैं । भागवत में अनेक नवीन प्रसंगों को जोड़ा गया है । हरिवंशपुराण की हीलासक-क्रीड़ा ही भागवत् की रासलीला का पूर्वरूप है । भागवत में रासलीला को बहुत महत्ता दी गई है । हरिवंश की प्रेमक्रीड़ा

---

६४. दशमस्कन्ध १० । २१ । ५ ।

६५. दशमस्कन्ध १ । ६ । ३३-३८ ।

६६. दशमस्कन्ध २९ से ३३ वीं अध्याय ।

६७. हजारीप्रसाद द्विवेदी 'मध्यकालीन धर्म-साधना', पृष्ठ १३०, १२५

६८. श्री अगरचंद नाहटा 'प्राचीन जैन ग्रंथों में कृष्ण-चरित्र, (कन्हैयालाल पोद्दार अ० ग्रंथ पृष्ठ ७०५-७१२) ।

स्थूल है पर भागवत के प्रेमाख्यान में कवित्व एवं भक्ति का पुट अत्यधिक है। विष्णु-पुराण में विरह को प्रधानता प्राप्त हो गई है। इस वियोग को आगे बहुत महत्त्व मिला। श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व में मानवीय मनोरागों की प्रधानता है। दाम्पत्य तथा वात्सल्य ही की प्रधानता रखी गई है।

संस्कृत नाटकों तथा काव्यों में श्रीकृष्ण के वीरत्वव्यंजक एवं रसग्राही रूप को ग्रहण किया गया है। स्वभावतः उसमें भावुकता, रसात्मकता, मानवीयता का अद्भुत सम्मिश्रण है परन्तु साथ ही श्रीकृष्ण के परमैश्वर्य और ब्रह्मत्व को अधिकांश स्थानों पर ग्रहण किया गया है। इस लौकिक साहित्य में कृष्ण का परम रसमय मानवीय रूप निखरा है, जो जनमानस को रसार्द्र बनाता है। ये लोकतत्त्व कृष्णकाव्य में अद्भुत आकर्षण उत्पन्न करते हैं। महाकवि कालिदास ने इन्द्र धनुष द्वारा सुशोभित काल मेघ के लिए मोरपंख धारण करने वाले गोपवेशधारी विष्णु की उपमा दी है।[६९]।

सुकवि एवं प्रसिद्ध नाट्यकार भास ने अपने सुप्रसिद्ध बालचरित्र नामक नाटक में श्रीमद्भागवत के अनुसार बालकृष्ण की लीलाओं का तन्मयता के साथ वर्णन किया है।[७०] माखन चोरी का प्रसंश भी है और और बलभद्र तथा गोपालों के साथ कृष्ण के ब्रज से आने और कन्स के मारने का स्पष्ट उल्लेख है।[७१] दूत वाक्य, दूतघटोत्कच पन्चरात्र तथा उरु भंग आदि नाटकों में श्रीकृष्ण महाभारत के कूटनीतिज्ञ, वाग्मी तथा वीर कृष्ण के रूप में दिखाये गये हैं। उन्होंने श्रीकृष्ण को अनन्त परब्रह्म के रूप में भी चित्रित किया है।[७२] भट्टनारायण के वेणीसंहार में भी श्रीकृष्ण को परमब्रह्म के रूप में उपस्थित किया गया है। गाथासप्तशती में कृष्ण को ब्रजलीला सम्बन्धी अनेक छन्द हैं।[७३] जिनमें बालकृष्ण, किशोरकृष्ण, रसिककृष्ण तथा राधाबल्लभ शृंगारी कृष्ण का हृदयग्राही वर्णन है। यह लौकिक कृष्णकाव्य की एक विशिष्ट काव्य धारा है, जिसे स्वतन्त्र व उन्मुक्त प्रेम की स्वच्छन्दतावादी प्रेम-वैचित्र्य प्रकाशिनी वाकधारा, की संज्ञा दी जाती है। यह काव्यधारा भोली-भाली ग्रामीण जनता का प्रतिनिधित्व करती हुई लोक तत्त्व को अपने अन्तराल में समेटती चलती है। रसिकेश कृष्ण का पूर्ण शृंगारी रूप एवं राधा के साथ अद्भुत रस क्रीड़ा में तन्मयता दिखानें का दृष्टिकोण विशेष महत्त्व पाता दिखाई देता है।

भारवि की भाँति माघ ने भी अपने काव्य 'शिशुपाल वध' का कथानक महाभारत से लिया है। जहाँ भारवि के 'किरातार्जुनीय' में शैव प्रभाव परिलक्षित-होता है, वहाँ यह कवि परमवैष्णव जान पड़ता है। नारद के मुँह से श्रीकृष्ण को अवतार कहलाया है।[७४] श्रीकृष्ण को निर्गुण ब्रह्म कह कर कहीं-कहीं योगी की भाँति चित्तवृत्तियों को अन्तर्मुखी करके आध्यात्मिक दृष्टि से उनका साक्षात्कार करना सम्भव बताया है। वे उदासीन, महदादि

६९. मेघदूत १-१५
७०. बा० च०, प्रथम अंक श्लोक ६।
७१. प्रथम अंक श्लोक २८।
७२. चतुर्थ अंक श्लोक १२।
७३. गाथा सत्तसई २-१२, २-१४, ५-४७, १-२६।
७४. माघ-शिशुपाल-बध प्रथमसर्ग ३६-३८।

विकारों से पृथक्, त्रिगुणात्मिका (सत्व, रजस् एवं तमस् गुणों से लिप्त) प्रकृति से भिन्न, विज्ञानघन (अनादि पुरुष के रूप में कहे गये हैं।[75] वे परदुःख-कातर बताये गये हैं।[76] वीरत्व-व्यंजक स्वरूप को प्रधानता देता हुआ भी कवि कृष्ण के सौन्दर्यशाली रूप को कहीं भी नहीं भूला है। कवि ने द्वितीय सर्ग में कृष्ण को नीतिज्ञ, धार्मिक, नीति कुशल, राजनीतिज्ञ तथा वाग्मी दिखलाया है। तीसरे से तेरहवें सर्ग के पूर्वार्द्ध तक श्रीकृष्ण का सौन्दर्यशाली रूप ही निखरा है। इन्द्रप्रस्थ में युधिष्ठिर की सभा में पहुँच जाने के बाद उनका स्वरूप बदल जाता है। यहाँ वे परम पुरुष एवं अग्रणी नेता के रूप में चित्रित किये जाते हैं। उन्नीसवें और बीसवें सर्ग में वे महान योद्धा एवं अद्भुत वीर के रूप में दिखलाई पड़ते हैं।"[77, 78, 79]।

'क्षेमेन्द्र' नामक कवि ने दसवीं शताब्दी के आसपास मात्रिक छन्दों में कृष्णलीला का गायन बड़े मधुर रूप में किया है। इन पंक्तियों में कृष्ण का चरित्र निखर आया है।

> ललित विलास कला सुख खेलन।
> ललना लोमन शोमन यौवन॥
>
> मानितनव-मदने।
>
> अलि कुल कोकिल कुबलय कज्जल।
> काल कलिन्द सुतामिव लज्जत॥
>
> कालियकुल दमने।

यह जयदेव कृत गीत गोविन्द का पूर्वाभास है।[80,81]

लीलाशुककृत 'कृष्णकर्णामृत' श्रीवृन्दावन बिहारी रसिक बिहारी मोहन मधुर रूप-रस-लीला-विषयक यह अपूर्व ग्रन्थ है। 'श्रीकष्ण का माधुर्योत्कर्ष-गान ही इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है। भगवान् की वेणुनादतत्पर गोपी सहस्रावृत किशोरकृति है।[82] श्रीकृष्ण को 'कामावतारांकुर' माना गया है। श्रीकृष्ण शृङ्गार-रस-सर्वस्व तथा ब्रज बधू नयनां रंजित है।[83] अनेक स्थानों पर लीलाशुक ने श्रीकृष्ण को 'वल्लवीकुचकुम्भकुंकुम'[84] तथा राधा 'पयोधरोत्संगी' कहा है।[85-86] ब्रजांगना सहित रासक्रीड़ातत्पर कृष्ण सर्वोत्कृष्ट रूप से

---

७५. सर्ग १ 'श्लोक' ३।

७६. द्वितीय सर्ग श्लोक' ११।

७७-७८-७९. सर्ग १९, श्लोक' ९५-३६-९७। सर्ग २० श्लोक ७६-७७-७८, सर्ग २० श्लोक ६९।

८०. हिन्दी-साहित्य (हजारी प्रसाद द्विवेदी) पृ० १६८-१७२।

८१. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल पृष्ठ १०८-११०।

८२. कृष्ण कर्णामृत श्लोक सं० २३।

८३. कृ० क० मृ० श्लोक सं० १।

८४, ८५. कृ० क० मृ० श्लो० सं० ९३।

८६. कृ० क० मृ० श्लो० सं० ९।

वर्तमान है।[८७] माधुर्योत्कर्ष के लिए २३ वाँ तथा ४७ वाँ श्लोक विशेष दृष्टव्य है। देखिए—

मधुरं मधुरं वपुरस्य विभोर्मधुरं वदनं मधुरम् ।
मधुगन्धि मृदु स्मित मेतदहो मधुरं मधुर मधुर मधुरं ।

मधुर उज्ज्वल रसात्मक होते हुए भी ग्रन्थ में संयोग से अधिक वियोग रस का परिवेशन होने से यह रसाभिलाषी भक्त जनों के सतत उपयोग की वस्तु बन गई है। इसमें काव्य की वृत्ति बाह्य से अन्तर्मुखी है। विषय प्राकृत नायक-नायिका नहीं, अप्राकृत गोपी-कृष्ण हैं। फल विषय-गर्त में पतन नहीं; दिव्य रस-विवर्त में चिर-विहरण है।

गीतगोविन्द में राधाकृष्ण की केलिलीलाएँ, आशा-निराशा, उत्कन्ठा, प्रणयजन्य ईर्ष्या, कोप, मानापमान, मिलन तथा रासक्रीड़ा का अपूर्व वर्णन अनुपम शब्द-चित्र एवं पद लालित्य से किया है। दाम्पत्य-प्रणय में तन्मयता या तल्लीनता का परम उत्कर्ष है। भेद में अभेद का आदर्श सर्वत्र दिखलाई पड़ता है। राधा का कृष्ण के प्रति उद्दाम प्रेम मानवीय प्रेम का ही प्रतीक नहीं है अपितु श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ क्रीड़ा करना जीव और आत्मा का अभेद माना जायेगा। श्रीमद्भागवत के गोपीवल्लभ कृष्ण ही गीतगोविन्द के नायक हैं, जो रसिक, वाक्पटु, सुन्दर, धूर्त और शृंगारी भावनाओं के रंगीले संसार में परिभ्रमण करने वाले प्रेमी हैं। नील कमल की श्रेणी के समान सुन्दर अंगों से आनन्दोत्सव में लगे हुए, स्वच्छभाव से ब्रजललनाओं द्वारा आलिंगित मुग्ध माधव इस वसन्त में साक्षात् शृंगार की भाँति क्रीड़ा कर रहे हैं।[८८] कृष्ण मुरली बजा रहे हैं जिसकी ध्वनि अधर-सुधा के संचार से और भी मधुर हो उठी थी; दृगंचल एवं मौलिदेश चंचल हो रहे थे। इसलिए कपोल पर लटके हुए आभूषण हिल रहे थे।[८९] चन्द्राकार चिह्नों से खचित सुन्दर मयूर पुच्छ के मन्डल से उनका केश वेष्टित था और प्रचुर इन्द्रधनुष से अनुरन्जित सान्द्र स्निग्ध-मेघ की भाँति उनका वेश बड़ा प्रिय था। यदि हरिस्मरण में मन सरस हो और विलास-कला में कुतूहल हो तभी जयदेव के आराध्य श्रीकृष्ण को समझा जा सकता है।[९०] इस प्रकार जयदेव ने राधाकृष्ण की प्रेम लीला का बड़ा रसमय वर्णन किया है। भक्ति और शृंगार को मिलाकर चलने वालों में जयदेव का स्थान अग्रगण्य है। गीतगोविन्दकार का प्रभाव विद्यापति, सूर, हितहरिवन्श, हरिराम व्यास तथा श्रीरामराय, चन्द्रगोपाल, गदाधर भट्ट, हरिव्यासदेव, सूरदास एवं नन्ददास एवं मीरा आदि पर पड़ी। सभी कृष्ण भक्त कवि श्रीमद्भागवत् के ही समान गीतगोविन्द से भी प्रभावित हुए थे। भाषाधिकार, भाव-प्रदर्शन की कुशलता, गीतात्मकता एवं कोमल कान्त पदावली की सरिता में जयदेव अद्वितीय हैं।

---

८७. कृ० क० मृ० श्लो० सं० १०३।
८८. गी० गो० प्र० तृतीय प्रबन्ध गीत गो० चतुर्थ सर्ग अष्टम् प्रबन्ध।
८९. ,, ,, द्वि० सर्ग श्लोक ३। (३) प्रथम सर्ग श्लोक ३।
९०. हजारी प्रसाद द्विवेदी, 'मध्यकालीन धर्म साधना', पृ० १२६ देखिए।

इस प्रकार श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व प्रारम्भ में साहित्य और शिल्प दोनों के क्षेत्र में वीरत्व व्यंजक तथा जो दुष्टों का दमन और भक्तों की रक्षा करता रहा। पर धीरे-धीरे दुष्ट दमन वाला रूप दबता गया है और लीला का रूप प्रधान होता गया। श्रीकृष्णावतार के दो रूप हुए। एक में वे यदुकुल के श्रेष्ठ रत्न हैं, वीर हैं, राजा और कन्सारि हैं; दूसरे में वे गोपाल हैं, गोपी जनवल्लभ हैं, राधाधर-सुधापान-शालि-वनमाली हैं। प्रथम रूप का पता बहुत पुराने ग्रन्थों से चल जाता है पर दूसरा रूप अपेक्षाकृत नवीन है।"[९१]

---

९१. रामधारीसिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ६३।

टिप्पणी—१

कवि नरहरिदास का अवतारचरित्र

राजस्थान के कवियों ने अपनी मातृभाषा राजस्थानी में साहित्य निर्माण करने के साथ साथ हिन्दी में भी बहुत बड़ा साहित्य निर्माण किया है। डा० मोतीलाल मेनारिया ने तो यहाँ तक लिखा है कि राजस्थानी भाषा की अपेक्षा भी राजस्थान के कवियों के रचित हिन्दी पिंगल साहित्य अधिक है, और उन्होंने इस विषय के अनुसंधान को अपना शोध प्रबन्ध का विषय बनाया। उनका वह शोध प्रबन्ध राजस्थान का पिंगल साहित्य के नाम से हितैषी पुस्तक भंडार, उदयपुर द्वारा सन् १९५२ में प्रकाशित हो चुका है।

१७वीं शताब्दी से डिंगल और पिंगल नामक दो स्वतन्त्र भाषाओं के नाम साहित्य में मिलने लगते हैं। राजस्थान में यह मान्यता रही है कि चारण कवि प्रधानतया डिंगल में ही रचना करते थे और भाट पिंगल में। चंद्रवरदाई ने पृथ्वीराज रासो की रचना पिंगल में ही की। जिसे पीछे से ब्रजभाषा भी कहने लगे। रासो यदि पृथ्वीराज चौहान की समकालीन रचना है तो १३वीं शताब्दी से राजस्थान में पिंगल या हिन्दी भाषा को कवियों ने अपना लिया था, सिद्ध होता है। वैसे १७वीं शताब्दी से पहले का रचित साहित्य बहुत ही कम उपलब्ध है।

चारण कवियों ने डिंगल के साथ पिंगल में भी कुछ रचनायें की हैं। उनमें से बरहट नरहरिदास का अवतार चरित्र एक विस्तृत एवं महत्वपूर्ण काव्य है। राजस्थान में इसका अच्छा प्रचार रहा है पर हिन्दी के विद्वानों ने उसका अभी तक मूल्यांकन नहीं किया। राजस्थान में इस काव्य की अनेकों प्रतियां मिलती हैं। मेरे संग्रह में ही ३–४ प्रतियां हैं। उदयपुर के सरस्वती भवन में ३ प्रतियां हैं जिनमें से एक सचित्र भी है। श्री मेनारियाजी ने अपने राजस्थान का पिंगल 'साहित्य' ग्रंथ में लिखा है कि अवतार चरित्र चारण जाति का एक अत्यन्त लोकप्रिय ग्रंथ है उसको पढ़े बिना एक चारण कवि की शिक्षा अपूर्ण समझी जाती है। इसकी चित्रित और अचित्रित दोनों प्रकार की हस्तलिखित प्रतियां एक भारी संख्या में राजस्थान के चारण भाटों के घरों, राज भंडारों आदि में पड़ी मिलती हैं। गुजरात के चारणों में भी इस ग्रंथ का अच्छा प्रचार रहा है। इस ग्रंथ के एक अंश नृसिंहावतार की गुजराती टीका पालनपुर के कवि हारीरदान चारण ने

की है। और वह संवत् १९९४ में प्रकाशित भी हो चुकी है। उसके प्रारम्भिक आत्म-निवेदन में टीकाकार कवि हमीर कान ने लिखा है। "हिन्दी के काव्य प्रदेश में महाकवि नरहरिदास जी का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। भवाब्धि में दृढ़ नौका रूप महाकाव्य अवतार चरित्र इसका उपरोक्त प्रमाण है। कवि उनको पैतृबन्धन मानकर यत्नपूर्वक सुरक्षित दशा में अपने घर की मंजूषाओं में रख छोड़ते हैं। जिस कवि के घर में अवतार चरित्र हो उसका गौरव माना जाता है। कि इसी के घर में अवतार चरित्र की हस्तलिखित प्रति है। जिनको अवतार चरित्र का यथावत् बोध होता है उनको योग्य स्थानों में आज भी सम्मान मिलता है। भाषा साहित्य में महात्मा नरहरिदास जी प्रणीत अवतार चरित्र की समानता गोस्वामी जी की रामायण व सूरदास की रचित सूरसागर के सिवाय दूसरे काव्य ग्रंथ नहीं कर सकते हैं। खेद है कि ऐसे महत्वपूर्ण काव्य की उपेक्षा हिन्दी विद्वानों से अब तक होती रही है। जब कि यह ग्रंथ बहुत वर्षों पहले ज्ञानसागर प्रेस, बंबई से प्रकाशित भी हो गया था। मुद्रित रोयल अठपेजी आकार के ५२० पृष्ठ हैं। इस ग्रंथ की सचित्र प्रतियां प्राप्त होना, अवश्य ही इसकी लोकप्रियता और अच्छे प्रचार का परिचायक है।

आगरा विश्वविद्यालय के हिन्दी विद्यापीठ के संग्रहालय में इसकी १ हस्तलिखित प्रति है जिसका विवरण 'भारतीय साहित्य', वर्ष २, अंक ४ में प्रकाशित हुआ है। यह अंक मुझे कल ही प्राप्त हुआ है। विवरण लेखक ने जो टिप्पणी दी है उसे पढ़ कर कल ही इस ग्रंथ के संबंध में विशेष प्रकाश डालने की इच्छा हुई। मैंने अपने संग्रह की प्रतियों को निकालकर देखा तो विदित हुआ कि वास्तव में विद्यापीठ संग्रहालय की प्रति पूरे अवतार चरित्र की नहीं है, केवल उसके अंक अंश रामायण की ही है। टिप्पणीकार ने 'इसमें रचनाकाल भी नहीं दिया है।' लिखा है, वह भी ग्रंथ के पूरे रूप में उपलब्ध न होने के कारण ही लिख दिया है। अन्यथा ग्रंथ के अंत में रचनाकाल मिलता ही है। और श्री मोतीलाल मेनारिया ने राजस्थानी भाषा और साहित्य तथा 'राजस्थान का पिंगल साहित्य' दोनों ग्रंथों में नरहरिदास के जीवन, अवतार चरित्र के रचनाकाल का पद्य और उनकी अन्य रचनाओं का विवरण भी प्रकाशित है ही।

हिन्दी जगत में नरहरिदास के अवतार चरित्र का पता सं० १९०२ में ही लग चुका था। हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज की सं० १९०२ की रिपोर्ट में नरहरिदास के अवतार चरित्र, दशम स्कंध भाषा, नरसिंह अवतार कथा, अहिल्या पूर्व-प्रसंग और रामचरित्र कथा-काकभुशुंड-गरुड़ संवाद का विवरण प्रकाशित हुआ था। तदनन्तर सन् १९०९ से ११ की त्रैवार्षिक रिपोर्ट में अवतार गीता के नाम से इस ग्रंथ का विवरण प्रकाशित हुआ। सन् १९०२ की रिपोर्ट तो मेरे पास नहीं है पर अपने संग्रह की अवतार चरित्र की हस्तलिखित प्रति को भलीभाँति देखने पर विदित हुआ कि वास्तव में अवतार चरित्र और अवतार गीता दोनों एक ही ग्रंथ हैं। यह भ्रम अवतार चरित्र के अंत में "इति श्री चौबीस अवतार महामुक्ति मार्ग बारहट नरहरिदासेन विरचितम् ग्रंथ अवतार गीता संपूर्णम्।" इस प्रशस्ति और अंतिम पद्य में भी कवि के लिखित "अवतार गीता, ईश्वरी, करिभक्ति कवि नरहर करि" इन शब्दों के कारण हुआ है। अतः नागरी

प्रचारिणी सभा से सं० १९८० में प्रकाशित "हस्तलिखित ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण" पहला भाग के पृष्ठ ७५ में जो सन् १९०२ और ९ की रिपोर्ट के आधार से अवतार चरित्र और अवतार गीता दोनों को पृथक माना गया है, वह ठीक नहीं है। इसी प्रकार सन् १९०२ की रिपोर्ट में जो दशम स्कंध भाषा, नरसिंह अवतार कथा, अहिल्या पूर्वप्रसंग और रामचरित्र कथा-काकभुशुंड-गरुड़ संवाद, इन चार रचनाओं का अवतार चरित्र से भिन्न विवरण दिया है। पर वास्तव में चारों अवतार चरित्र के ही अध्याय या अंश हैं। डा० मोतीलाल मेनारिया ने भी इनकी ठीक जाँच न कर नरहरिदास की अन्य छः रचनाओं को अवतार चरित्र के अतिरिक्त बतलाया है। वह भी दूसरों का भ्रमपूर्ण अनुकरण ही है। उन्होंने लिखा है कि कहते हैं कि अवतार चरित्र के अतिरिक्त नरहरिदास ने १६-१७ ग्रंथ बनाये थे। पर उन सब का पता नहीं लगता, केवल नीचे लिखे छः ग्रंथों के नामों का पता है। १ दशमस्कंध भाषा, २ रामचरित कथा, ३ अहिल्या पूर्व प्रसंग, ४ वाणी, ५ नरसिंह अवतार कथा, ६ अमरसिंह जी रा दूहा। इनमें से दशम-स्कंध भाषा, रामचरित्र, अहिल्या पूर्व प्रसंग और नरसिंह अवतार कथा—ये चार तो वास्तव में स्वतन्त्र रचना न होकर, अवतार चरित्र के ही खंड हैं। अवशेष 'वाणी' नामक रचना भी इनकी नहीं लगती क्योंकि वाणी तो संतों की ही होती है। सन् १९०६—से ८ और ९—से ११ की खोज रिपोर्ट में 'नरहरिदास की वाणी' का विवरण छपा है। पर उसके रचयिता नरहरिदास को वहाँ सरसदास के शिष्य और रसिकदास के गुरु होना बतलाया है। संभव है, मेनारियाजी ने नरहरिदास की वाणी यह नाम देखकर ही बारहट नरहरि-दास की रचनाओं की सूची में इसे भ्रमवश सम्मिलित कर लिया हो, अतः उनकी उल्लिखित अन्य छः रचनाओं में से पांच के नाम तो स्वतन्त्र रचना के रूप में देना गलत ही है। उनकी उल्लिखित केवल अमरसिंहजी रा दूहा यह एक ही रचना अवतार चरित्र के अतिरिक्त रह जाती है। अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर के राजस्थानी विभाग के प्रति नं० ६६ में राव अमरसिंह रा दूहा (५०७) बारहट नरहरिदास लखाउत, रचित होने का जो उल्लेख है उससे इसका स्वतन्त्र कृति होना सिद्ध है। इसी लाइब्रेरी के हिन्दी विभाग में नरहरि बारहट रचित पोरुपेय रामायण बालकांड की ३७ पत्रों की प्रति है। वह भी वास्तव में अवतार चरित्र का ही एक खंड है। हनुमान जैत नामक एक और रचना की २ प्रतियाँ इसी संग्रह में हैं, जो नरहरिदास रचित होने का सूची में लिखा है। इसके रचयिता नरहरिदास अवतार चरित्र के रचयिता ही होने संभव हैं। अहिल्या स्तुति नामक एक रचना नरहरिदास कृत श्री उदयराज जी उज्ज्वल ने मुझे नकल करके भेजी है। उसको अवतार चरित्र से मिलान करना अभी शेष है।

जैसा कि अवतार चरित्र या अवतार गीता के नाम से स्पष्ट है कि इसमें अवतारों का विवरण है। और विद्यापीठ संग्रहालय की प्रति की प्रशस्ति में "इतिश्री चतुर्विंसती श्री अवतार चरित्र भाषा श्री रामायणे उत्तरकांड समाप्तम् संपूर्णः" इस प्रशस्ति वाक्य से भी इस ग्रंथ में २४ अवतारों की कथा होना निश्चित होता है। इन २४ अवतारों में रामावतार व कृष्णावतार दो ही प्रधान हैं। अतः इनका चरित्र भागवत् और वाल्मीकीय रामायण के आधार से विस्तृत रूप में दिया है और इन खंडों की अलग रूप से लिखी

हुई प्रतियाँ भी मिलती हैं। हमारे संग्रह में ही पत्राकार इन दोनों अवतारों के चरित्र की प्रतियाँ हैं व गुटकाकार दो प्रतियों में से एक पूर्ववर्ती २० अवतारों के बाद कृष्ण अवतार का विस्तृत खंड है जबकि मूल ग्रंथानुसार रामायण के बाद कृष्णावतार का वर्णन होना चाहिये। पर प्रति को लिखने या लिखाने वाले की भक्ति कृष्ण के प्रति अधिक होगी। इसीलिये उसने रामावतार का बीच का वर्णन छोड़ दिया और अंत के दो अवतारों का वर्णन भी इस प्रति में नहीं है।

अब मैं अपने संग्रह के अवतार चरित्र की पूरी प्रति में वर्णित २४ अवतारों के नाम व पत्र संख्या दे रहा हूँ; जिससे उन अवतारों के चरित्र कितने परिमाण में हैं, इसका भी कुछ अन्दाजा पाठकों को लग जायगा। जिस अवतार का चरित्र १ पत्र से कम में है उसकी पत्र संख्या बारीक पत्रांक में दिया है।

१—आदिवाराह अवतार चरित्र पत्रांक ३।
२—सनकादिक अवतार केवल ४ पद्यों में।
३—जज्ञावतार पद्य ३।
४—नरनारायण अवतार पत्रांक ४।
५—कपिला अवतार पत्रांक ५।
६—दत्तात्रय अवतार पद्य ११।
७—रिसभावतार पत्रांक ६।
८—ध्रुव वर्दा अवतार पत्रांक ८।
९—प्रथुअवतार पत्रांक १०।
१०—हयग्रीव अवतार पत्रांक ११।
११—कूर्म अवतार पत्रांक १२।
१२—मच्छावतार पत्रांक १३।
१३—नरसिंह अवतार पत्रांक २२।
१४—वामन अवतार पत्रांक २४।
१५—हरिअवतार गजमोक्ष पत्रांक २६।
१६—हंसावतार पद्य १२।
१७—मनवंतर पद्य ३९।
१८—धनवंतर पत्रांक २७।
१९—परशुराम पत्रांक २६।
२०—व्यासावतार पत्रांक २९वाँ।

इन २० अवतारों के चरित्र का परिमाण सूचित दोहा इस प्रकार है—

एक सहस अरु आठसै पुनि ऊपर पचास।
ब्रह्म आदि व्यासंतलों श्लोक अनुष्टुप जास।।

२१वें पौरुषेय रामायण का परिमाण सूचक दोहा यह है—

बारसहस अरु आठसै, इगसठ ऊपर आनि ।
राम चरित्र नरहर रच्यो श्लोक अनुष्टुप जानि ।।
मैं जौ सुन्यौं पुराण महिं क्रम सोइ वर्णनन कीन ।
लेखक श्रोता पाठतै पावे मुक्ति प्रवीण ।।

२ पत्रांक १८५ में रामायण का उत्तरकांड समाप्त होता है । फिर कृष्णा अवतार का वर्णन भागवत् दशम स्कंध के अध्याय नौ और एकादश स्कंध के तीन अध्यायों के आधार से रचित है तदनन्तर २३वें बौद्धा अवतार २४वें कल्कि अवतार का केवल ३ पत्रों में चरित्र है । अन्त में २४ अवतारों के नाम देकर ग्रंथ के रचनाकाल का सूचक निम्नोक्त छप्पय दिया है ।

सतरहसें तैतीस, नियत संवत उतरायन ।
ऋतु ग्रीषम आसाढ़, मास पख कृष्ण सु पावन ।।
बनि आठै तिथि भोमवार सिधि जोग सुमंगल ।
पुहकर रत्न प्रसिद्ध मध्य पूजित भुव मंडल ।।
अवतार चरित चोइसए, विजय सुजग जग वित्थर्यो ।
कवि दास दास नरहर सुकवि, कृत सुधार अपनो कर्यो ।।

अर्थात् सं० १७३३ के अंत में ग्रंथ का परिमाणमूचक दोहा इस प्रकार है ।

सहस सोल अरु आठसै, इगसठि उपरी आन ।
छंद अनुष्टुप कर सकल, पूरण ग्रंथ परिमाण ।।

विद्यापीठ के संग्रहालय की प्रति के विवरण में इसका परिमाण ५०२१०, पता नहीं कैसे लिख दिया गया है ? विवरण लेखक एक सबसे बड़ी गलती यह करते हैं कि पत्र संख्या के साथ पंक्ति संख्या तो लिखते हैं, पर प्रति पंक्ति में कितने अक्षर हैं यह नहीं लिखते । वास्तव में प्रति पंक्ति की अक्षर संख्या के लिखने पर ग्रंथ परिमाण स्वयं निकाल के जाँच की जा सकती है । हमारे संग्रह की गुटकाकार प्रति २४४ पत्रों की है । प्रति पृष्ठ पंक्ति २९ से ३७ तक और प्रति पंक्ति अक्षर ३० से ४२ तक है ।

नरहरिदास का जीवन चरित्र मेनारियाजी के उपरोक्त दोनों ग्रंथों और नृसिंहावतार के गुजराती टीका—वाले संस्करण में छपा है । लेख विस्तार वैसे यहाँ नहीं दिया गया ।

—श्री अगरचन्द नाहटा

विद्यापीठ के हस्तलिखित ग्रंथों का विवरण

वीसलदेव रास [क्र० सं० २४१]

ग्रंथनाम,	वीसलदेव रास	भाषा,	राजस्थानी
ग्रंथकार का नाम,	नाल्ह	लिपि,	नागरी
पत्र संख्या,	१४	अक्षरों की माँप,	$\frac{1}{4}$"
आकार,	१०$\frac{1}{4}$" × ४$\frac{1}{4}$"	पूर्ण,	पूर्ण
पंक्ति संख्या,	३०	अपूर्ण,	+
परिणाम अनुष्टुप् छंद में,	६०३	दशा,	उत्तम
ग्रंथ का कागज़,	बांसी, पुराना	लिपिकाल,	सं० १७६०
सचित्र या अचित्र,	अचित्र	रचनाकाल,	सं० १०७७
चित्र संख्या	+	लिपिकार का नाम,	श्री चंद्र
विषय,	काव्य	प्राप्तिस्थान,	
गद्य-पद्य	पद्य		

क० मुं० हिन्दी
विद्यापीठ आगरा विश्वविद्यालय
आगरा

आदि

श्रीगणेसायनमः

गवरिका नंदण त्रिभुवनसार । नाद भेदइ धारै उदर भंडार ।
एक दंतो मुषि झलहलै । मूसका वाहण तिलक सिंदूर ।
कर जोडी नरपति भणै । जाणि करि रोहिणी ज्यूं तप्यो सूर ।।१
कै भवणन देषउरे रवि तलै ।
हंस गमणि मृग लोचनी नारि । सीस समारि रे दिन गियौ ।
ततषिण ऊभी छै राज दुवारि । नाहनै जोवै रे चिहुं दिसै ।
कांइ सिर जीउ लगणां री नारि । जाइ दिहाडो रे सूरतां ।२। आंकणी
दूसरै कडवैजी गणपति गाइ । न्हवण करूं तोरै लागुंजी पाइ ।
तुझ लंबोदर वीनवुं । सिद्धि दै वुद्धि तणोरे भंडार ।
चउध करु तो रो पारणो । भूलो की अक्षर आणिज्यो ठाइ ।।३ मु०

हंस वाहणदेवी धारै छै वीण । झूठो कवित कहै कुल हीण ।
वरदे ज्यो माता सारदा । भूलोजी अष्यर आणिज्यो ठाइ ।
तइ रुठी अषर जुडै । न्हाल भणै अति सरसी वाण ।४। भु०
न्हाल रसायण रस भरी गाइ । तूठी नै सारदा त्रिभुवन माटी ।
उलगाण गुण वर्णवु । सुगुण सुमाणस सीष ज्यो रास ।
स्त्रीय चरित धण कुण लषै । एकहु अष्यर वचन विणाल ।५। भु०
राजमती कुमरी मन चिताजी धाइ । हसि हसि वेटी वापहि जाइ ।
सुणो नरेसर वीनती । रूपै कंदर्प्प मोहनी जाणि ।
सुरगिह मोहयो छै देवता । जो इज्यो वर अति सगुण सुजांण ।६। भु०
तोकु राजा तणो मिल्यो दीवांण । वहु नर वैठा छै आगेवांण ।
राव राणा चिहु दिस तणी । रांणी जी वीनवै राव नरिंद ।
वारै वहनै आंपणै । थे कुवरी परणविज्यो जोइनै वीद ।।७।।भु०
पांडीया तो नै बोलावै छै राव । ले पतडो पांड्या राव लै आव ।
सुवर सोधे म्हांरा पंडीया । आंण कोई नागर चतुर सुजांण ।
सुर गिर मोह्या छै देवता । वरवीसल विचषण चहूआंण ।।८।।भु०
गढ़ अजमेरै वसै भूपाल । चहूआंण कुल तिलक सिणगार ।
कुली छतीसे ऊलगै । मयमत हस्ती सहस अठार ।
लाष तुरी पाषर पडै । रसो सुरवर वीसल चहु आंण ।।९भु०
वांभण भाट बोलावै छै राय । लगन सोपारी दीनी पठाय ।
गढ अजमेर थे गमन करो । पाट बैसार प..................

मध्य

......जी सारस कुरलीया । तदै तुरीय डकाईया संभरि चाल ।।५।भु०
चालीयो उलगाणो उलालीयैनाग । आडो फिरै तिहां कालो नाग ।
वासिगदेव दया करो । दूध पषालि सुंधार हो पाव ।
दूध कटोरै पाविसुं भगति । करेस्यां धारी दुइ कर जोडि ।
सोना रूपा की पीचडी । उलगजां तो म्हां को नाह बहोडि ।।६।।भु०
तूं तो सुणिहे गोरी वोलै वासिग नाग । मोण न मानै हे थारो जी नहि ।
बचन विरोध्यो नीसरै । चित्तउ काहीयौ जाइ ही जाइ ।
राष्यो क्यांही कोनां रहै । तूं तो रहि हे गोरी समझ मन मांहि ।।७।।भु०
आवि दामोदर प्रीय समझाइ । ग्रह पीड्यो श्रो उलग जाइ ।

विण दोत्रै ग्रह पीडवै । आठमो थावर बार मोराह ।
ऊली मेल्ही ऊलग चालीयो । रोवती छोडी धण चालीयो नाह ॥८॥भु०
नासिका जीव हीयै जलै दाह । सूनै मिदर दीन्हीय धाह ।
साधण कुरली मोर जु । साथ ससी मिलि बैठी छै आइ ।
निसंतान जिउं ऊवै गया । नाऊं इण परै कोइ माणस जाइ ॥९॥भु०॥

सषीय सहेली रही समझाइ । सगुण मांणस हुवै तो नाह कुं जाइ ।
फूलि फगरि जो गाहिनै । चंपीया ते जीय तुरी ऊडाइ ।
मृग चरतां गोरी मोहिजै । भोली अंचल बांधियो नाह क्यु जाइ ॥१०॥भु०
सुणो सहेली थम्हारी जी बात । कंचूयो षोलि दिषाडीया गात्र ।
त्रीया चरित्र मैं लष कीया । मूरष राव न जाणए सार ।
राउ वडो पिण मेंस पीडार । जिण दीठै मुनिवर चलै ।
मैं तो ओ कर बोलीयो कोपीयो नाह । तिणि कुवचनि सषी धणबली ।
ढालीयो पासो चूकि गयो दाव ॥११॥भु०॥

आगै प्रियु की वैरणि नदीय वनास । सावन घर मांहे मंडीय आस ।
चांबिल चडीय न उतर्या । हिवै तू तो वरसि सुहावा मेह ।
नदी वहै प्रिय बाहुडै दूध पाणी जिम वधै सनेही ॥१२॥भु०॥
राजा छंडीयो हो आबू जेसलमेर । छंडीया गोरडी गढ़ अजमेर ।
छोड्या चोबारा चोषंडा । छोडी हो सेंभर नागर चाल ।
छोडीयो देस सवालषो । गोरीष ऊतरि गयो नदीय बनास ॥१३॥भु०॥
पांडीयो वोलावि आव्यो तिणपास । नाटिका जीवन हीय डलै……

अंत

………आजु कौ ॥ राजमती मिल्यो वीसल रा ॥४४॥ भु० ॥
संवत सहस सतहतरै जाण । नाल्ह कवीसर सरसीय वाण ।
गुण गुथ्या चहुआण का । सुकल पक्ष पंचमी सावणमास ।
रोहिण नष्यत्र सोहामणो । सुदिन गिण जायसी जोडीयो एस ॥४५॥ भु०

कनक काया जसी कूंकूयरोल । कविन परोहर हेम कचोल ।
कलि सरंभसी कुंयली । धाइल ज्यूं धरा मोडै नाक ।
कडि मोडइ चालै गोरडी । उणकी विरह वेदना नां लहै कोइ ।
जिउ राजा नै राणी मिल्या । तिउ नाल्ह कहै मिलज्यो सहू कोइ ॥४६।
भवण न देषुंजी रचित वै इति श्री विशल दे रास संपूर्ण समाप्तं ॥ श्रीरस्तु ॥

संवत् १७६० वर्षे फागुण सुदि १४ दिने वृहस्पति वासरे श्री विक्रमपुर मध्ये वाचनाचार्य श्री ५ श्री मतिहर्षजी गणि । तत शिष्य पं० महिमामाणिक्य जी गणि । तत्सिष्य पं० महिमसुंदर जो तत्सिष्य श्रीचंदेण लिपीकृत मस्ति ।। साध्वी सर्वगुणशालिणी माणिक्य सिद्धि गणिनी तत्सिष्यणी सा० महिमासिद्धि तत्सिष्यणी पूरां बाई पठिनार्थे ।

ढाल धमाल सात पांच सीषायन की १ टोली २ षेलो फाग ।
रेवत गिर नेंमीसर के गुन । गावो उन विन वराग ।।१
सेवा को नदन मन वस्या हो ।

बीसलदेव रास के छंदों की सूची

१ गवरिकानन्दण
२ हंसगमणि
३ दूसरैकडवै
४ हंसवाहणदेवी धारे'
५ न्हाल रसायण
६ राजमती कुमरी
७ तोकु राजा
८ पांडीया तो नै
९ गढ़अजमेरै
१० वांमणभाट बोलावै
११ चाल्योपाड्यो
१२ दीनी सोपारी
१३ लगन बंभण समुदीयो
१४ बांभण सहित
१५ राजा मन्त्री लियौ बोलाई
१६ तवै व्याहण चालीयों
१७ मेलिमिली
१८ पूंजियोगणपति
१९ पायक कण सिर तिलक
२० सरस संमरघी
२१ देववाधेरडै दीयो
२२ पायक धनुष धरैं
२३ पायक कंकण सिर वंधीयो
२४ धार को राजा
२५ सजै छै राजमती
२६ चलियोरावत
२७ तोरण आवीयो
२८ राजाजी उतरीया
२९ सात सहेली
३० देसमालवै हूयउ
३१ दूजइ फेरइ फेरीयउ
३२ तीजै फेरे फेरीयो
३३ कंधजनोइय
३४ राजा कै बारणै
३५ पाट वैसारी छै
३६ जूयारमण
३७ जूयारमण
३८ हुइ पहिरावणी
३९ तुरिय पलाणिय
४० परणि अरणि
४१ मागसीष
४२ दीन बचन
४३ थेसव
४४ सेजचाले की जै
४५ नयरपाल
४६ डेरैडेरै
४७ मांडलपुर
४८ करि सजाई
४९ राजा चौरासी
५० सुरंग पटोली
५१ पाट दुलीचइ
५२ ततषिण
५३ हस्ती गुज
५४ गरव करि बोली

५५ गरबड करि
५६ चितह चमकी यो
५७ कुंवर विरांसी राजा
५८ जनमहूग्रो थारो जैसलमेर
५६ जनम की बात सुणि
६० पूरब देश को
६१ जनम मागु स्वामी मारू कै देस
६२ जुनपती हूँ गोरे थारे है वैण
६३ पंडिया हूं धारा
६४ पंडिया तोहि
६५ भूठो रे बांभण
६६ राजा नै गोरडी पडी
६७ उलगजाण धणी
६८ रहिनन्द गोरडी
६६ गांभ रधणी
७० नाहि मगह कूग्रर
७१ हुं तो बोलतो बोलीय
७२ नै तो उछा गोरडी
७३ तीन गुनह वगसें
७४ ऊलग जाता
७५ हूं नपती जुं
७६ गहिली है मुधकिन
७७ पाय पड़ु राजा
७८ वरजनै हे धण
७६ चालिमो उलग
८० छाड़िनै
८१ कात्तिक तूं स्वामी
८२ गहिलो हें
८३ छांडी हो स्वामी
८४ बीज तीजै
८५ तिथ ग्रर महूरत
८६ चाले उलगांणे
८७ कडुग्राबोल न बोल हे नारि
८८ छोड़ी हो स्वामी
८६ तबै ग्रावै छे
६० तबै सुणे भावज
६१ सुणिहें भावज
६२ ग्राकुली होइ न
६३ लवै हीय
६४ भाटिण कहै
६५ टसकलां मसकलां
६६ लाड गहेली हे
६७ सामीचालणहार
६८ उलगजातां
६६ उलगजांण की षरी
१०० उलगजांण की
१०१ झलकती कडि
१०२ नवै तुरिय पलाणीया
१०३ तुरीयपलाणी
१०४ चालीयो
१०५ राजाजी लाछियो चंवलिषाल
१०६ चालीयो उलगाणो
१०७ तूं तो सुणि हे गोरी।
१०८ ग्रावि दामोदर
१०६ नासिका जीव हीयै
११० सषी सहेली
१११ सुणो सहेली
११२ ग्रागै प्रियकी वैरिण नदी बनास
११३ राजा छंडीयो
११४ पांडीयो वोलावि ग्राव्यो
११५ सात सहेलिय बैठी ग्राय
११६ थे भली सराही दवदंती
११७ उवा तो सुनहूं
११८ हिवै राजा
११६ राजाजी भेटीयो राज परधान
१२० मंत्र वैराग कहु विध जाण
१२१ जाइ हो मन्त्री वार मलाय
१२२ ग्रावीउ मन्त्र
१२३ भानुमती दुवारै ग्रावीयो
१२४ तबै राणीजी पूछै
१२५ या विधि बात
१२६ ग्रम्हघीर एक ग्रछै

१२७ एतलो वचन राणी सुन्यो
१२८ कर जोड़ी मंत्री
१२९ तबै राणी जी सरव क्यो
१३० हूं तुउ तारो
१३१ जेतलो परत्रा
१३२ चाल्यो उलगाणो
१३३ मगसिर मास
१३४ देपि सषी हिवै
१३५ माह मास
१३६ फागुणकर
१३७ चैत्रमासै चतुरंगी
१३८ वैसाखाँ धुरि
१३९ देषिसषी हिवै लागो जेठ
१४० असाढां
१४१ श्रावण
१४२ भाद्रवै दरसै
१४३ आसोजै धण
१४४ बारमास वोलावीकी या नार
१४५ धुरिहिसीयालो
१४६ अस्त्रीय जनम कांइ
१४७ आंजजी कांइ न सिरजी
१४८ एकलो उलगाणो
१४९ असी बरस की बूढै वैस
१५० बात न मानी कूटणी
१५१ चमकती चालती
१५२ हेम की ऊपली
१५३ सासू कहै बहू
१५४ गोरड़ी बैठी चौबारे आइ
१५५ पांड्या ए दुष
१५६ पिड्या चूंचाली
१५७ पंडिया जाय कहे
१५८ स्वामी संकल
१५९ वात उहो धणी
१६० वलो हो धणीय तुम्हारे
१६१ पंडीया कहै राजा
१६२ पंडीया जिम कहे
१६३ कहि नंदगोरी
१६४ बलि कहीं
१६५ विपीयाप्रीयका
१६६ बाहुड़ि गोरी तूं घरि जाइ
१६७ कागल डाहर
१६८ कातीय मास
१६९ बाट बटाउ धणम वीर
१७० वीर जनो द्रय
१७१ वीरी दीन्ही
१७२ पंड्या सुणि बोलै
१७३ कोस पयाणै
१७४ सात मै मासै
१७५ पंडीयो यहूतो सात मे
१७६ देव कइ थानि करी अखारा
१७७ दीठोरे नगरनिहां
१७८ रक्त चंदण
१७९ पंडियो बैठो छै
१८० रे पडदार मलावो वार
१८१ राउल हू पंडीयै
१८२ झूठो रे बांभण
१८३ बांभण भणइ
१८४ राजमती हसि
१८५ जब बांभण
१८६ चमकी करि उठियो
१८७ दीजै हकारो
१८८ स्वामी की धी
१८९ पदम सरोवर
१९० चिहू दिस राजा
१९१ आगलि दीस
१९२ पाछली दिस राजा
१९३ इनरो सुण राजा
१९४ तब हसि राजा
१९५ भानुमती बोलै
१९६ तवइ आपुण वांभण
१९७ पच्छिम पोल मेल्हो पडदार
१९८ रायंगण जब आवीयोराय

१९९ दाहिणदिस राजा
२०० पूरवै राजा बोल्यो
२०१ जै तूं पूछै छै
२०२ एतला बचन
२०३ हंसि बोलै छै
२०४ पंडीयो आण
२०५ पंडीयो फिरि कीधी संभाल
२०६ दीन्ही वीरी पंडीयै
२०७ पीडीया गोरन छै
२०८ चमकि कइ उठी उसंतर बाल
२०९ सांठ ठीभरो तुम्हें
२१० तब भीतर सच दीन्हो
२११ रह रह वीरा
२१२ रहि रहि बहिन
२१३ कंठ भरि भरि
२१४ रावस्यूं मिल्यो
२१५ राजा सूं मिलीयो
२१६ उडी माकी नल
२१७ तवै जोग मो एक
२१८ आयो जोगी राजा
२१९ उलीट उपर
२२० हिवै जोगनो
२२१ सांभल जोगी कहै नरनाथ
२२२ ततषिण जोगी
२२३ जोगनो सिद्ध बोलै
२२४ थे तो चालो जोगी
२२५ तठै जोगनो चालीयो
२२६ तठै जोगीनो आय
२२७ उण राजमती
२२८ जोगनो पहूतो गढ़ अजमेर
२२९ तब जोगनो जाइ
२३० तब जोगीनइ राणीय
२३१ जोगनो द्वार बइठउ
२३२ सामी कवण देसावर
२३३ वीरी दीन्ही जोगी
२३४ वीरी राषी गोरी
२३५ भूषीयउ जोगनो
२३६ उणनै दूध कटोरो
२३७ ल्यावै छै अरध
२३८ राय चोरासीया नुं देइ
२३९ नयर उडी साषी
२४० असंषि नलहडी
२४१ तब घरि आवियो
२४२ घरि सषी आवीयो
२४३ घींट कोउ लवट
२४४ सूकडि संघ षोलिया
२४५ बारां वरसां
२४६ हड हड हसइ
२४७ टसकला मसकला
२४८ तहू तो उलग
२४९ तबरे बोलै वीसल चउहाण
२५० भूषण को स्वामी सुणो
२५१ उलग पहूंती
२५२ धन्य हो पंडीया
२५३ संवत सहस सतहतरै
२५४ कनक काया जर्मी
२५५ भवण न देषूं

टिप्पणी

हिंदी में रासो काव्य के प्रसंग में वीसलदेव रास का एक विशिष्ट स्थान है। पहिले पहिल नागरी प्रचारिणी सभा ने इसे प्रकाशित किया था, जिसकी छंद संख्या तथा उसके रचनाकाल को लोगों ने प्रामाणिक नहीं माना। और कुछ ने तो यह भी कहा कि यह रचना सोलहवीं शती के बाद की है। सभा की प्रति का रचना-काल इस दोहे के अनुसार—

बारह सै बहोतरा हाँ मँझारि,
जेठ वदी नवमी बुधवारि। प्र० सर्ग, छंद ६

संवत् १२७२ है। इसकी और भी प्रतियाँ मिली हैं जिनमें रचना काल के संवतों में हेर फेर है।

संवत् सहस तिहुतरइ जांणि।
संवत् सहस सतिहुतरइ जांणि।
जेठ वदी नवमी बुधवारि।
संवत् तेर सतोतरइ आणि।

विभिन्न प्रतियों में संवत् के लिए प्रयुक्त ये पंक्तियाँ अभी तक विवाद का विषय बनी हुई हैं। इनमें भी मुख्य रूप से विचारणीय यह है कि नागरी प्रचारिणी सभा की प्रति में आरंभ में ही ६ वें छंद में संवत् दिया गया है, परन्तु इस हस्तलेख में अंत में २५३ वें छंद में संवत् का उल्लेख है।

संवत् सहस सतहुतरै जाण।
नाल्ह कवीसर सरसीय वाण।
गुण गुथ्याचहुआण का, सुकल पक्ष पंचमी सावणमास
रोहिण नषत सोहामणो,
सुदिन गिण जायसी जोडीयों रास ॥ ४५

संवत् की इस समस्या के अतिरिक्त इसमें छंद संख्या का भी प्रश्न है। इसीलिए प्रस्तुत हस्तलेख के छंदों की पूरी सूची दी जा रही है। इस ग्रंथ में चार खंडों में कथा का वर्णन है। जिसमें कवि ने पहले खंड में गणेश की वंदना के अनंतर भोज की पुत्री राजमती का विवाह और दूसरे में उड़ीसा की यात्रा तथा उड़ीसा के राजा के द्वारा उसका आतिथ्य सत्कार और तीसरे में रानी की वियोगावस्था तथा चौथे में वीसलदेव का लौटकर आना वर्णन किया है। इस हस्तलेख का लिपिकाल यह है:—

संवत् १७६० वर्षे फागुण सुदि १४ दिने वृहस्पति वासरे श्री विक्रमपुर मध्ये वाचनाचार्य श्री श्रीमतिहर्ष जी गणि तत् शिष्य पं० महिमा माणिक्य गणि तत्सिष्य पं० महिमसूंदर जी तत्सिष्य श्री चंदेरा लिपिकृत मस्ति॥ अर्थात् श्री हर्षगणि के शिष्य महिमामाणिक्य गणि

उनके शिष्य महिमासुंदर गणि के शिष्य श्रीचंद्र ने पूराबाई के पढ़ने के लिए संवत् १७६० = १६०३ ई०, फाल्गुन सुदि १४ वृहस्पतिवार को विक्रमपुर (१) में प्रतिलिपि की।

ग्रंथ की भाषा में पुरानी राजस्थानी का रूप स्पष्ट ही दिखाई पड़ता है।

इस ग्रंथ की छंद संख्या एवं प्रतियों के परिचय के लिए निम्नलिखित साहित्य दृस्टव्य है :—

१—राजस्थानी, जनवरी १९४०

२—नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ४७ पृ० २५५

,,　,,　,,　५४ पृ० ४१

—उदयशङ्कर शास्त्री